चरम-लक्ष्य

श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज
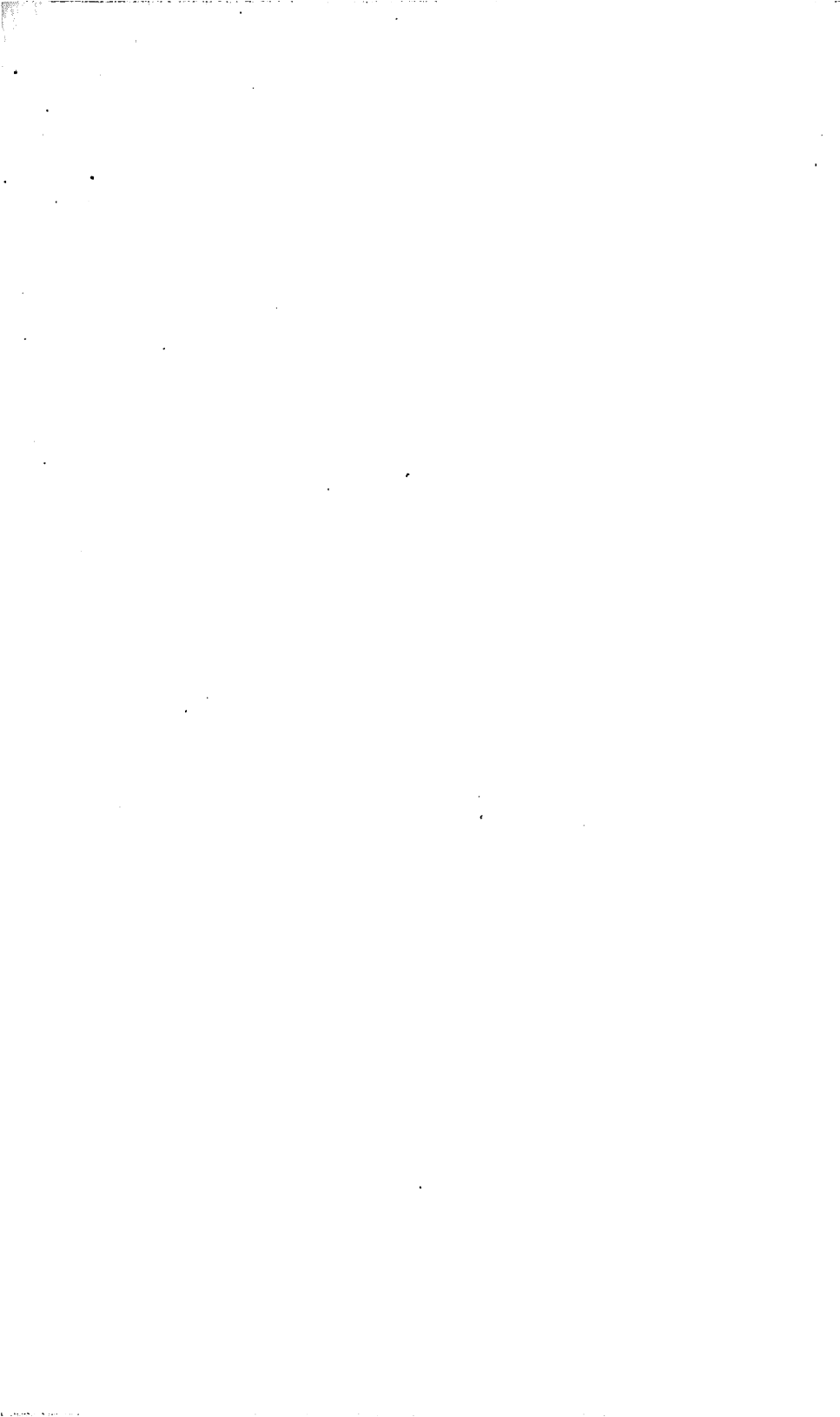
ॐ

श्री दक्षिणामूर्ति संस्कृत ग्रन्थ माला

चरम लक्ष्य

प्रवक्ता
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी
महाराज, आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी
२२१०१०

एक

अनाद्यानन्दकूटस्थसत्यज्ञानसुखात्मने।
अभूतद्वैतजालाय साक्षिणे ब्रह्मणे नमः।।
विश्वम्पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।
यस्याहुरागमविदः परिपूर्णशक्तेरंशे कियत्यपि निविष्टममुं प्रपञ्चम्।
तस्मै तमालरुचिभासुरकन्धराय नारायणीसहचराय नमः शिवाय।।
मम न भजनशक्तिः पादयोस्ते न रक्तिर्न च विषयविरक्तिर्ध्यानयोगे न सक्तिः।
इति मनसि सदाऽहं चिन्तयन्नाद्यशक्ते रुचिरवचनपुष्पैरर्चनं सञ्चिनोमि।।
ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ॐ शन्तिः शान्तिः शान्तिः।।

गत वर्ष हम लोगों ने 'ज्ञान-साधना' पर विचार किया। साधना और साध्य यह प्रसिद्ध क्रम है। वेदान्त शास्त्र में प्रायः पहले साध्य का निरूपण किया जाता है और बाद में साधना का। ब्रह्मसूत्रों के प्रारंभ में भगवान् वेदव्यास ने सबसे पहले लक्ष्य का निरूपण किया, साध्य का निरूपण किया। साधना से व्यक्ति जहाँ पहुँचता है उसे साध्य कहते हैं, लक्ष्य कहते हैं। जो हमारे सामने तारे की तरह चमकता रहे, जिसे हम लखते रहें उसे ही लक्ष्य कहते हैं। प्राचीन काल में जब एक जगह से दूसरी

जगह जाना होता था तो दिशा का निर्णय करने के लिये किसी न किसी तारे को सामने कर लेते थे जिससे हमेशा निर्धारित किया जा सके कि किधर जाना है। क्योंकि उधर हमारी नज़र रहती थी, वह हमें लखाता रहता था हमारा मार्ग कौन सा है, इसलिये उसे लक्ष्य कहते थे। उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये जिस मार्ग से जाया जाता है उसे साधना और जहाँ पहुँचा जाता है उसे साध्य कहते हैं। जब तक पहले लक्ष्य का पता न हो, उद्देश्य, गन्तव्य, जहाँ हमें पहुँचना है उसका पता न हो, तब तक वह चीज़ हमें आकृष्ट करती नहीं, खींचती नहीं। ठीक जिस प्रकार शलभ—पतंगा—पहले सामने बत्ती देखता है तब उसकी तरफ जाता है। सामान्यतः मनुष्य समझता है शलभ जा रहा है, पर विचारशीलों का कहना है कि दीपक पहले आँखों द्वारा शलभ के हृदय में प्रवेश कर जाता है, और हृदय में प्रविष्ट वही दीपक स्वयं अपनी ओर आ रहा है! दीखती गति शलभ में है पर वस्तुतः गति देने वाला वह दीपक ही है। यदि दीपक ने आँखों द्वारा शलभ के हृदय में प्रवेश न किया होता तो वह शलभ कभी भी उसकी तरफ न जाता। इसलिये कहा तो जाता है कि साधक साधना करता है पर साधक क्या साधना करेगा! साध्य, लक्ष्यरूप परमात्मा ही साधक में प्रविष्ट होकर खुद ही उसे अपनी तरफ खींच रहा है। इसी दृष्टि से वेदांतशास्त्र में सामान्यतः नियम है कि पहले साध्य, लक्ष्य, गन्तव्य, उद्देश्य का निरूपण कर दिया जाये जिससे वह साधक के हृदय में प्रविष्ट हो जाये क्योंकि तब साधक स्वयं उसकी तरफ चल देगा। प्रवेश हो जाने पर उसकी ओर गये बिना रह नहीं सकता क्योंकि वह लक्ष्य है ही ऐसा। इसीलिये उसे चरम लक्ष्य कहते हैं।

चरम उसे कहते हैं जहाँ जाने के बाद कहीं जाना अवशिष्ट रह न जाये, कोई दूसरा लक्ष्य न आ सके। जब तक लक्ष्य पर पहुँचने के बाद हमारे सामने कोई दूसरा लक्ष्य है तब तक उसे चरम नहीं कह सकते। जिसे पाने पर और कुछ पाना बाकी न रह जाये वह चरम है। अतः चरम लक्ष्य यदि हमारे हृदय में आ गया तो इसकी प्राप्ति होने तक हम शान्ति से बैठे रह नहीं सकते। सामान्य पुरुष स्वभावतः हिरण्य का लोभी होता

है, सब को सोना चाहिये। यदि काँच की अलमारी में तुम्हें सोना पड़ा हुआ स्पष्ट दीख रहा हो तो उसे लेने की तमन्ना बार-बार जागती रहेगी। यदि तुम्हे उपाय मालूम पड़ जाये तो उससे तुम सोना पाने का प्रयास करोगे, मिल जाने तक शांत नहीं रहोगे। ऐसे ही जिसे पाने के बाद और कुछ पाना शेष रह नहीं जायेगा वह चरम लक्ष्य तुम्हारे सामने है यह तुम्हें पता लग जाये और उसे पाने का उपाय भी पता लग जाये तो तुम उसे पा लेने तक शांति से रह नहीं सकोगे। क्योंकि वह चीज़ तुम्हे इतनी बड़ी गति देती है इसलिये अंग्रेजी वाले उसे 'इमोशन' कहते हैं। जिस चीज़ के प्रति तुम्हारा आकर्षण पूरा होता है वह स्वतः तुम्हे गति देती है, तुम्हे उधर जाने के लिये प्रवृत्त करती है। वेदांतशास्त्र इसीलिये प्रायः पहले साध्य का निरूपण करता है। वह लक्ष्य यदि तुम्हारे हृदय में उतर गया तो साधना तो स्वयं कर लोगे, किये बिना तुमसे रहा ही नहीं जायेगा। उसके लिये तुममें ऐसी तड़प पैदा हो जायेगी कि तुम्हे शांत रहने नहीं दे सकेगी। कई बार हम कह देते हैं 'हम इस बात का तो वचन नहीं दे सकते कि तुम्हे परमात्मा मिलेगा कि नहीं। पर यह निश्चित कह सकते हैं कि तुम संसार से आकृष्ट नहीं हो पाओगे। क्योंकि एक बार उस चरम लक्ष्य का पता लग गया तो सामान्य लक्ष्य तुम्हे अपनी तरफ खींच नहीं सकेंगे।' वैराग्य की कमी से तुम पूरी तरह उधर लग न सको यह तो संभव है परंतु हमेशा मन में बना रहेगा 'मैं उसे क्यों नहीं पा सक रहा ?' और यदि यह भाव मन में स्थायी रहने लग गया तो निश्चित समझ लो परमात्मा ने तुम्हारा वरण कर लिया, तुम्हे चुन लिया। वेद स्पष्ट कहता है 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' परमात्मा ने जिसे चुन लिया वह उसे प्राप्त कर लेता है। आचार्य शंकर ने इस वाक्य के दो प्रकार से अर्थ किये हैं—जिस अधिकारी साधक को परमात्मा चुन लेते हैं उसे प्राप्त हो जाता है और साधक जब परमात्मा का वरण कर लेता है तब उसे प्राप्त हो जाता है। कई लोग शंका करते हैं कि एक ही वाक्य के दो अर्थ कैसे ? साधारणतः दोनों अर्थ विरुद्ध लगते भी हैं। एक में परमात्मा चुनता है और दूसरे में साधक चुनता है। किंतु वस्तुतः दोनों अर्थों में कोई अंतर नहीं। जैसा अभी बताया, दीपक

आँख द्वारा हृदय में प्रवेश करता है और हृदय में प्रवेश किये दीपक से शलभ उधर ही दौड़ता है अर्थात् उसका वरण करता है। चाहे यह कहो कि साधक ने परमात्मा को हृदय में धारण कर लिया इसलिये जा रहा है अथवा कहो कि परमात्मा उसके हृदय में बैठ गया इसलिये जा रहा है बात एक ही है। इसीलिये ब्रह्मसूत्र के प्रारंभ में भगवान् वेदव्यास ने लक्ष्य का निरूपण कर दिया 'जन्माद्यस्य यतः', परमात्मा का स्वरूप बता दिया, वह लक्ष्य है।

श्वेतकेतु उद्दालक आरुणि का पुत्र था। उस पर माँ का बहुत स्नेह था। माँ का प्रेम हो तो पिता चाहे जितना योग्य हो बच्चे को पढ़ा-सिखा नहीं पाता। पढ़ने के लिये या व्यापार करने के लिये दूकान पर बैठायेगा तो माँ कहेगी 'चार बज गये हैं, उसे घर भेज दीजिये।' आजकल तो दूरभाष होते हैं, उसी से खबर भेज देगी। पिता कहेगा भी 'अरे अभी हिसाब लिख रहा है, उसे काम समाप्त कर लेने दो।' पर माँ कहेगी 'अरे कल कर लेगा।' यदि रोज़ ऐसे कल ही होता रहेगा तो लड़का सीखेगा कैसे? या पढ़ेगा कैसे? यही श्वेतकेतु की माँ की स्थिति थी। प्रेम की अतिशयता के कारण उसकी पढ़ाई हो नहीं पाई और वह बारह वर्ष का हो गया। पिता समझ गये घर में यह पढ़ नहीं पायेगा, कहीं बाहर ही भेजना पड़ेगा। आजकल भी बच्चा घर में पढ़ न पा रहा हो तो होस्टल वाले विद्यालय में भेजते हैं। आरुणि ने श्वेतकेतु को कहा 'बेटा! तू बारह साल का हो गया, तेरी पढ़ाई हो नहीं रही है इसलिये पढ़ने के लिये तुझे बाहर भेजूँगा। हमारे कुल में अभी तक कोई बे-पढ़ा-लिखा हुआ नहीं। इसलिये तुझे भी अवश्य पढ़ना चाहिये।' यों समझाकर उसे भेज दिया।

श्वेतकेतु ने गुरुकुल जाकर अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य होता है मनुष्य में विनय आना। हमारे यहाँ संस्कृत की जो पहली पुस्तक पढ़ाई जाती है हितोपदेश, उसके पहले पृष्ठ पर ही वचन मिलता है 'विद्या ददाति विनयम्।' विद्या की परीक्षा ही यह है कि मनुष्य में विनय आवे। चाहे जितना पढ़ लो यदि तुममें विनय नहीं आयी तो निश्चित है कि तुमने वास्तविक विद्या पढ़ी नहीं! पाश्चात्य देशों में न्यूटन एक बहुत बड़ा

वैज्ञानिक हुआ है। एक बार उससे किसी ने कहा 'आपके जैसी योग्यता वाला व्यक्ति न आज तक कोई हुआ और न भविष्य में होता दीखता है।' न्यूटन ने कहा 'बेवकूफी की बातें मत किया करो। ज्ञान के समुद्र के किनारे पर मैं केवल थोड़े से कंकड़ों को बटोर रहा हूँ। ज्ञान तो समुद्र की तरह अथाह है, मैं तो थोड़े से कंकड़ ही ले पा रहा हूँ।' यह है विनय। बीसवी शताब्दि में, और संभवतः न्यूटन के बाद सबसे बड़ा वैज्ञानिक हुआ आईन्स्टाईन। उससे भी किसी ने कहा 'न्यूटन को आपने न जाने कितना पीछे छोड़ दिया। आपके सामने न्यूटन कुछ भी नहीं रहा।' आईन्स्टाईन ने जवाब दिया 'क्या मूर्खता की बातें कर रहे हो। कहीं पर कोई चीज़ दीख न रही हो तो छोटा बच्चा पिता के कन्धे पर चढ़ जाता है जिससे वह पिता से कुछ ज्यादा दूर तक देख लेता है। क्या इतने मात्र से वह अपने पिता से बड़ा हो गया ? इसी प्रकार न्यूटन के कन्धे पर बैठकर मैं एक छोटा सा बच्चा कुछ आगे देख पा रहा हूँ तो यह कोई मेरी विशेषता नहीं, बल्कि उन्ही की विशेषता है। उन्होंने जो ज्ञानशिखर बनाया उस पर चढ़ कर ही न देख पा रहा हूँ।' सही विद्या विनय को देती है।

श्वेतकेतु ने अध्ययन तो खूब किया पर उसमें विनय नहीं आयी। आजकल भी बहुत से बच्चे जितना पढ़ते हैं उतना समझते हैं हम विद्वान् बन रहे हैं। कहीं पर भी अंधकार की जो सीमा होती है वह प्रकाश की सीमा के अनुसार बढ़ती जाती है। एक धूप-बत्ती जल रही हो तो अँधेरा भी छोटे घेरे का ही दीखेगा। उसकी अपेक्षा दीपक जला लो तो अँधेरे का घेरा भी बड़ा दीखेगा। यदि दो सौ नम्बर का लट्टू जला लो तो अँधेरे का वृत्त और बड़ा दीखेगा। जितना प्रकाश फैलेगा उतना ही अँधेरे का वृत्त बढ़ता चला जायेगा। ऐसे ही जितना ज्ञान बढ़ता है उतना ही पता लगता है कि अज्ञान की सीमाये कितनी ज़्यादा हैं। थोड़े ज्ञान वाला समझता है वह सब कुछ जानता है पर ज्ञान बढ़ने पर उसे पता लगता है कि वह कितना कम जानता है। जानकारी बढ़ने पर पता लगता है कि अज्ञान का विषय कितना अधिक है। इसीलिये वेदांत कहता है कि अज्ञान रहता है ज्ञान पर। ब्रह्म ज्ञानघन है और वही अज्ञान का आश्रय है। यह सामान्यतः

अटपटा लगता है। पर बात ऐसी ही है। इसलिये मनुष्य में विद्या से विनय आयेगी। पर श्वेतकेतु में विनय न आयी। घर जाते हुए उसने विचार किया 'मेरा पिता कोई बहुत बड़ा विद्वान् नहीं रहा होगा अन्यथा मुझे स्वयं न पढ़ा कर अन्यत्र पढ़ने क्यों भेजता ?' इसलिये आकर श्वेतकेतु ने प्रणाम आदि नहीं किया। आजकल भी लड़के पिता को केवल मौखिक नमस्कार करते हैं, प्रणाम आदि करते नहीं। उद्दालक समझ गये 'अरे ! भेजा था पढ़ने को पर यह विद्या प्राप्त कर आया नहीं।' विद्या की परीक्षा तो विनय से है। उन्होंने पूछा 'बेटा पढ़ आया ?' उसने कहा 'हाँ अच्छी तरह पढ़ आया।' पिता ने आगे पूछा 'क्या वह भी पढ़ आया जिससे जो कभी न सुना हो वह सुना हुआ हो जाये, न जाना जाना हुआ हो जाये, न सोचा हुआ सोचा हुआ हो जाये; जिसे जान लेने पर जानना बाकी नहीं रहता इसलिये जो कुछ है सब जान लिया जाता है ?' परमात्मविद्या की यह विशेषता बार-बार वेदों में आती है। प्रकृत श्वेतकेतु का प्रसंग सामवेद का है। अथर्ववेद में भी आता है 'कस्मिन्नु विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?' अर्थात् किसे जान लेने पर सब जान लिया जाता है ? इसी बात को यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण कहता है 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' अर्थात् उस आत्मतत्त्व को सुन लेने पर, जान लेने पर, समझ लेने पर, जो कुछ है वह सब जान लिया जाता है। इस प्रकार चरम-लक्ष्य के विषय में वेद के सभी वाक्य इस बात को एक स्वर से कहते हैं।

इस प्रश्न से श्वेतकेतु घबराया, उसने सोचा अब पिता जी पुनः पढ़ने भेज देंगे तो बहुत मुश्किल होगी। पर उसका गर्व समाप्त हो चुका था। अतः स्पष्ट कहा 'पिता जी यह बात मुझे वहाँ पढ़ने को मिली नहीं। आप ही बता दें।' थोड़ा अभिमान बाकी था इसलिये यह भी बोला 'संभवतः यह बात गुरु जी भी जानते नहीं थे अन्यथा मुझ जैसे योग्य शिष्य को क्यों न बताते।' पिता समझ गये कि वह वापिस जाने से डर रहा था। तब वे उसे समझाने लगे—'मान लो मिट्टी के विषय में तुम्हें ज्ञान प्राप्त करना है तो यदि तुमने उस मिट्टी के गुण-धर्मों को जान लिया तो मिट्टी से होने वाली सब चीज़ों को जान लिया। सोने का काम करने वाले सोने

की परीक्षा सीख लेते हैं तो चाहे जिस गहने के सोने को जान सकते हैं। सीखने के लिये हर गहना कसौटी पर कसना नहीं पड़ता। इस प्रकार सारे संसार के कारण परमात्मा को जान लें तो सारा संसार ज्ञात हो जायेगा। वह सद्रूप परमात्मा ही जगत्कारण है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है।' ऐसे और भी विस्तार से समझाने पर श्वेतकेतु ने उस तत्त्व को समझ लिया। भगवान् ने गीता में भी चरम लक्ष्य का यही निरुपण किया 'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते' जिसे जान कर यहाँ जीते हुए ही फिर कुछ जानने योग्य बच नहीं जाता।

लक्ष्य वह होता है जो उसे प्राप्त होवे जो उसकी तरफ चला। मान लो चले तो हम और पहुँच कोई अन्य व्यक्ति गया तो यह तो नहीं कह सकते कि हमारा चरम लक्ष्य पूरा हो गया ! हम साधना प्रारंभ कहाँ करते हैं ? इस शरीर-मन में रहते हुए ही हम साधना प्रारंभ करते हैं। स्वयं को हम शरीर के धर्मों वाला ही समझ रहे हैं, ब्राह्मण, देवदत्त, हिंदुस्तानी आदि। अतः ब्राह्मण देवदत्त मैंने साधना शुरु की, चरम लक्ष्य मैं पाना चाहता हूँ। यदि सब वर्णों से रहित वैकुण्ठ जाकर मैं इस स्थूल शरीर से व इन सारी परिस्थितियों से रहित होकर नये शरीर वाला विष्णु-पार्षद बनकर उस चीज़ को प्राप्त करूँगा तो प्राप्त करने वाला मैं तो नहीं रहा। मैं देवदत्त ने, ब्राह्मण ने साधना शुरु की थी। वैकुण्ठ पहुँचा तो मेरा कुछ हिस्सा ही रहा क्योंकि सूक्ष्म शरीर एक ही है, पर जिस समस्त रूप वाले मैंने साधनारंभ किया उस रूप वाला मैं वहाँ नहीं ही रहा। इसलिये चरम लक्ष्य इस शरीर में रहते हुए ही पाना है।

बुद्ध देव के जीवन का एक प्रसंग हैः बुद्ध भिक्षा करते हुए कहीं जा रहे थे, एक नर्तकी ने उन्हें देखा और आकृष्ट हो गयी और उनसे बोली 'आप मेरे घर आकर रहें।' बुद्ध समझ गये। वे बोले 'मुझे तूने अपने घर बुलाया है, मैं आऊँगा ज़रूर पर अभी नहीं। मैं साधु हूँ, जिसने बुलाया है उसके घर जाऊँगा अवश्य पर आज नहीं, समय आने पर।' बुद्ध देव विचरते हुए आगे चले गये। दस-बीस साल बीत गये। चरित्रहीनता के कारण नर्तकी को तरह-तरह के रोग हो गये। अंत में उसे गलित कुष्ठ

हो गया। जो लोग उसके नाचने पर मुग्ध होकर उसे हीरों के कण्ठे चढ़ाते थे वे अब उसके सड़ते शरीर के आस-पास भी जाते नहीं थे। उस समय पुनः बुद्ध उधर से गुज़रे। उन्हें पूर्व निमन्त्रण याद था अतः उन्होंने उस नर्तकी के घर का रास्ता पूछा। लोगों ने बताया 'वह भ्रष्ट दुराचारिणी कोढ़ से सड़ रही है, जन्मभर उसके साथ रहने वाले भी उसकी दुर्गन्ध सहन नहीं कर पा रहे हैं, आप वहाँ जाकर क्या करेंगे ?' उन्होंने कहा 'उसने मुझे बुलाया है इसलिये मुझे जाना है।' वे उसके घर पहुँचे और बोले 'अरे तुमने मुझे निमंत्रण दिया था, मैं आ गया।' वह रोने लगी 'जिस मैंने आपको निमंत्रण दिया उसका शरीर आज आपकी सेवा के योग्य है नहीं, अब तो मैं सड़ रही हूँ।' बुद्ध देव की अंतर्दृष्टि थी, बोले 'तुमने चाहे शरीर को मानकर बुलाया हो पर मैंने तुम्हारे असली रूप का निमंत्रण स्वीकारा है। इस समय तुझे मेरी ज़रूरत है। मैं तुझे बताता हूँ इस विकृत अवस्था में तू कैसे उस अविकृत तत्त्व को पा सकती है।' उन्होंने उसे उपदेश दिया। यहाँ तो दृष्टांत इतने में है कि जैसे नर्तकी समझ रही थी कि जिस शरीर से निमंत्रण दिया था वह सेवा लायक नहीं रहा, वैसे ही जिस रूप में साधनारंभ किया उसी रूप में चरम लक्ष्य पाने की कोशिश करनी चाहिये। यद्यपि अंतःशरीर की दृष्टि से परलोकादि में भी यदि सिद्ध हो जाता है तो लक्ष्य प्राप्त मुझे ही होता है—जैसे अंतर्दृष्टि वाले बुद्ध तो उसी के पास आये थे जिसने निमंत्रण दिया था—तथापि योग्य यही है कि इसी बहिःशरीर के रहते हम लक्ष्य प्राप्ति कर लें। इसीलिये वेद भी जगह-जगह 'इह' शब्द का प्रयोग करता है 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' यहाँ, इस शरीर में यदि तुमने उस तत्त्व को जान लिया तब वो काम बन गया अन्यथा महान् विनाश है। अतएव भगवान् ने भी कहा 'न इह भूयोन्यद्' इस शरीर में रहते हुए कुछ और ज्ञातव्य नहीं रह जाता। ऐसा वह चरम लक्ष्य है। स्मृतिकारों ने भी कहा है

'जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्मधारणम्।
नित्यमुक्तस्य देवस्य न तदर्थादिहेतवे।।'

नित्य मुक्त परमात्मदेव इस मनुष्य शरीर में क्यों आया ? जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख को देखने के लिये। मोक्ष का सुख भी अद्भुत सुख है। पर विभिन्न पदार्थों को विभिन्न रूप से देखते हुए उसकी एकता को देखने का आनन्द कुछ विलक्षण है। इसी के लिये परम ब्रह्म ने गर्भ में प्रवेश किया, अन्य किसी सामान्य उद्देश्य से नहीं। इसलिये भगवान् ने भी स्पष्ट कहा कि जीवन के रहते यदि परमात्मा को जान लिया तो कुछ और जानने की इच्छा नहीं रहेगी, कुछ न जाना हुआ रहेगा ही नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि जानना न सही, पाना तो बाकी रह सकता है ? पर इसके समाधानार्थ अन्यत्र भगवान् ने कह दिया है 'तस्य कार्यं न विद्यते।' जिसने चरम लक्ष्य पा लिये उसके लिये कोई कार्य नहीं बच जाता, प्राप्य नहीं रह जाता। ऐसा कुछ नहीं रहता जो उसे कुछ करके मिल जाये। कहीं यह शंका न हो जाये कि कुछ जानने-करने से रहित यह जडस्थिति है, इसलिये भगवान् ने कह दिया 'स कृत्स्नकर्मकृत्।' जितने कर्म होते हैं वे सब उसके किये हुए हैं। उसका किया हुआ न रहे ऐसा कोई कर्म नहीं रहता। संस्कृत में कहते हैं यदि कहीं हाथी का पैर बना हुआ है तो बाकी जानवरों के पैर उसी में आ जाते हैं क्योंकि सबसे बड़ा हाथी का ही पैर होता है 'सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम्।' ऐसे ही यदि इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो गयी तो ऐसा नहीं कि अन्य लक्ष्य अप्राप्त रह गये। चरम लक्ष्य पाये हुए ने सारे लक्ष्यों को प्राप्त कर लिया। सारे लक्ष्य उसके अंतःपाती हो गये। श्रुति ने भी बताया है कि जैसे नदियाँ बहते हुए जब समुद्र में पहुँच जाती हैं तो उनका अलग-अलग नाम-रूप नहीं रह जाता है, यह कह नहीं सकते कि यह पानी गंगा का है, वह कावेरी का है, पर सारा पानी है वहाँ मौजूद। सब नदियों के जल का वहाँ अभाव नहीं बल्कि उसकी पूर्णता है। ऐसे ही चरम लक्ष्य प्राप्त होने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है, कुछ अप्राप्त रह नहीं जाता। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं 'कृत-कृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः'। जो कुछ प्राप्त करने योग्य है वह सब उसे प्राप्त है। जो कुछ भी करने लायक है वह सब उसने कर लिया। 'तृप्यन्नेव स्वमनसा मन्यतेसौ निरन्तरम्' उसके मन में सदा तृप्ति

बनी रहती है, कोई अतृप्ति नहीं रहती। यद्यपि पूर्णता नयी नहीं आती, है यह सनातन। शास्त्र कहता है—

'आत्मभूपतिरयं पुरातनः पीतमोहमदिरामदाकुलः।
किंकरस्य मनसोपि किंकरैरिन्द्रियैरहह किंकरीकृतः।।'

वस्तुतः आत्मस्वरूप राजाओं का भी राजा है। और कोई नया राजा बना हो ऐसा नहीं, पुरातन है, पहले से पहले चले जाओ तो भी यह आत्मा ही भूपति रहा है। जब संसार का स्पन्द भी नहीं था तब भी 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद्', 'आत्मैवेदमग्रआसीद्'। आत्मभूपति यथावत् था। तब क्यों इसे साधन की अपेक्षा है ? क्यों इसे साध्य की प्राप्ति आवश्यक हो रही है ? जब इसे पहले ही प्राप्त है तो इसे चरम लक्ष्य बनाना क्यों पड़ रहा है ? क्योंकि इसने मोह का, अज्ञान का नशा कर लिया है, अज्ञानरूप शराब पी ली है। जैसे शराब के नशे में ब्राह्मण ब्राह्मण रहते हुए ही स्वयं को चाण्डाल समझता है व वैसा ही आचरण करता है, सड़क पर, नाली पर पड़ा रहता है; नशे से आकुल हो जाता है। ऐसे ही अज्ञानवश आत्मा का क्या हाल हुआ है? इस आत्मभूपति का एक छोटा सा दास है मन, उसके भी दास जो इंद्रियाँ, उनका भी यह दास बना हुआ है। इस नशे से इसकी कितनी दयनीय स्थिति हो गयी है !

एक बार एक राजा ने मंत्री द्वारा किसी महात्मा को महल में आने का निमंत्रण भेजा। महात्मा ने जवाब भेजा 'राजा को मिलना हो तो मुझसे मिलने आवे। मैं अपने गुलाम के गुलाम के गुलाम के पास क्यों जाऊँ ?' मंत्री ने आश्चर्य किया 'छप्पर और कपड़े भी आपके पास नहीं, आप राजा को ऐसा कैसे कह रहे हैं ?' महात्मा ने कहा 'जो मैंने कहा वह तुम राज से कह देना।' राजा ने सन्देश सुना तो आया महात्मा के पास और पूछा 'मैं आपके गुलाम के गुलाम का गुलाम कैसे ?' महात्मा ने जवाब दिया 'इंद्रियाँ तुझे परेशान करती हैं। कान सुनना चाहता है तो तुझसे सुने बिना रहा नहीं जाता।' आश्रम में आठ बजे भोजन की घंटी बजती है। एक सज्जन रोज़ पाँच मिनट देर से आते थे। पूछा तो बोले

'स्वामी जी आठ बजे खबरें आती हैं, सुने बिना मुझसे रहा नहीं जाता।' ऐसे ही किसी को गाना सुनना पड़ता है। किसी को देखना पड़ता है, देखे बिना उससे रहा नहीं जाता। इसीलिये महात्मा ने कहा 'तू इंद्रियों का गुलाम है। इंद्रियों को नियंत्रण करने वाला मन है अतः वे उसकी गुलाम हैं। मन को नियंत्रण करने वाला मैं हूँ। इसलिये मैंने कहा कि तू मेरे गुलाम के गुलाम का गुलाम है।' राजा समझ गया।

यह आत्मभूपति इस दुर्दशा को प्राप्त है। इसीलिये बार-बार सुनने पर भी स्वयं की वास्तविकता को पहचान नहीं पाता। सहदेव पाण्डवों में बहुत विद्वान् थे, विशेषतः ज्योतिष के; और पढ़ने-लिखने में सबसे क़मज़ोर था वृकोदर भीम, वह तो भोजन बहुत अच्छा बनाना जानता था। इसी विद्या से विराट्नगर में वह अपना काम चला पाया था। सहदेव वहाँ राजा को शिक्षा देने वाले और ज्योतिष की बातें बताने वाले बने। भीम एक दिन सहदेव से बोले 'दुर्योधन हमेशा अच्छे विद्वानों से घिरा रहता है, पढ़ा-लिखा भी है। भगवान् कृष्ण के माहात्म्य को यह क्यों नहीं समझ पाता ? भगवान् की महत्ता बताने वाले ऋषि इसके पास भी रहते हैं पर यह समझ नहीं पाता। क्या बात है ?' सहदेव ने उत्तर दिया 'भइया ! यह इतना सरल नहीं है।

'आत्मारामा विहितमतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम्।।'

दुर्योधन अज्ञान से अंधा है। अँधे आदमी के सामने सूर्य भी प्रकाशता रहे तो क्या अंधे को दीख सकता है ? आँख का रोग दूर किये बिना सूर्य भी अंधे को दीखे यह हो नहीं सकता। ऐसे ही जो अपनी नज़र बन्द कर लेता है वह देख नहीं सकता। दुर्योधन मोहान्ध है। वह पुराण देव को कैसे जान सकता है ? कृष्ण इसके सामने हैं, ऋषिं इसे बताते भी हैं कि ये भगवान् हैं, भगवान् इसके रिश्तेदार भी हैं, समधी हैं, पर वह समझ

नहीं पा रहा। मोहांधकार कैसे हटे ? सहदेव कहता है—जो लोग आत्मा में रमण करते हैं वे ही भगवान् को जानेंगे। जब तक अनात्मपदार्थों की तरफ तुम्हारी दृष्टि जाती रहेगी तब तक तुम्हारे हृदय में सब समय विद्यमान होने पर भी, मैं जाता हूं, खाता हूं आदि तरह से हर समय उसका व्यवहार होने पर भी जो यह मैं-रूप परमात्मा है वह समझ आयेगा नहीं। उसका विचार ही नहीं करते—यह मैं है कौन ? बहुत विचारो तो मानते हो मैं मन हूं। पर गहरी नींद में मन तो रहता नहीं लेकिन मैं तो रहता ही हूँ। याद करते हो 'मैं बड़े आनंद से सोया, मुझे कुछ पता नहीं लगा।' अतः मन वहाँ था नहीं इसलिये पता नहीं चला। पर मैं तो था ही जो सोया था, जिसे आनंद आया और कुछ पता नहीं चला। वह मैं कौन है जो मन के बिना भी रहता है ? आचार्य शंकर भी कहते हैं 'को देवो यो मनःसाक्षी।' परब्रह्म पुराण देव कौन है ? मैं ही वह पुराण देव है। रात दिन तुम्हारे सामने है लेकिन मोहान्ध होने से तुम उसे देखते ही नहीं। कहते हो, अपनी बात छोड़ो बाकी दुनियाँ की सोचो। वेदांत की यह विलक्षण—सबसे भिन्न—दृष्टि है। बाकी सब बाहर जाकर ढूँढने को कहते हैं। वेदांत बारम्बार कहता है यह सारा संसार तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है। जब तक मन में वृत्ति नहीं बनेगी तब तक कोई संसार है नहीं। जब तक मनोवृत्ति को तुम प्रकाशित नहीं करोगे तब तक यह संसार प्रकाशित हो सकता नहीं। जो मन का साक्षी है वही पुराण देव है। यह जानकारी होवे तभी जब आत्माराम बने, अनात्मा को छोड़े व आत्मा की ओर जाये। तेरहवें अध्याय के प्रारंभ में ही भगवान् ने विभाजन स्पष्ट कर दिया—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। जब तक खेती को देखोगे तब तक खेती के मालिक की तरफ दृष्टि नहीं जायेगी। क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र को जानने वाला, वह कौन है ? उस आत्मा की ओर दृष्टि तब जाये जब अनात्मा से दृष्टि हटे। इसलिये आचार्यों ने कहा है 'अनात्माऽदर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे' अनात्मा की तरफ दृष्टि न ले जाना यही परमात्मा की उपासना है। इसलिये विपरीत स्थिति आने पर वेदान्ती अपने अन्दर झाँकता है 'मुझ में खराबी कहाँ आयी ?' यह 'मैं' व्यक्ति, घर, समाज; जिस काल में जिसे मैं समझते हो वह सभी 'मैं' हो

सकते है। यदि हमारे देश पर कोई दूसरा हावी हो रहा है तो वेदान्ती कहेगा हमारे देश में हम गलती कर रहे हैं तभी विदेशी हम पर हावी हो रहा है। दृष्टि हमेशा अपनी ओर है। जब इस प्रकार दृष्टि बाहर से भीतर की ओर आये तभी शास्त्रविहित में रति होगी। जिसे आत्मा नहीं अनात्मा चाहिये वह शास्त्र की बात मानेगा क्यों ? शास्त्रानुकूल रति से प्रेरित सत्साधनों से निर्विकल्प समाधि में ज्ञान का उद्रेक होता है। जब चित्त सर्वथा एकाग्र होकर उस तत्त्व को ग्रहण करता है तब ज्ञान अंदर से उद्रिक्त होकर मानो बाहर निकलना चाहता है, भर जाता है अपने अन्दर। तब अँधेरे की गाँठे खुलती हैं। शरीर, मन आदि न जाने कितनों से मेरी गाँठें लगी हुई हैं। सभी अध्यासरूप गाँठें खुल जाती हैं। तब निरन्तर सत्त्वगुण में स्थिति होती है। तब वह जो ज्योतियों का ज्योति, सारे ज्योतियों से परे सत्तत्त्व है वह दीखता है। मोहान्ध उसे कैसे जान सकता है ?

यद्यपि आत्मा हमारा स्वरूप है, सर्वदा हमें प्राप्त है तथापि चूंकि यह अपने किंकर के किंकर का किंकर बना हुआ है इसलिये जब तक हम आत्माराम न बन जायें तब तक काम होता नहीं। आत्माराम बनने के लिये आत्मा के स्वरूप को जानना ज़रूरी। इसलिये सारे साधनों का निरूपण करने के बाद भगवान् ने प्रतिज्ञा की 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' अब मैं उस चरम लक्ष्य को प्रकर्षेण भली तरह से समझा कर कहूँगा। यद्यपि पहले भी जगह-जगह उसे बता चुके हैं तथापि यहाँ और स्पष्ट कर कहेंगे। उस चरम लक्ष्य को जानने के साथ ही अमृत की प्राप्ति हो जाती है। चरम लक्ष्य है ही वह जिसे पाकर कुछ पाना बाकी रह नहीं जाता, सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इसकी प्राप्ति व समझने के साधनों का निरूपण गत वर्ष किया था, अब उसके स्वरूप का निरूपण करेंगे। यद्यपि प्रायः साध्यनिरूपण पहले होता है तथापि क्योंकि अर्जुन के प्रश्न का क्रम था 'ज्ञानं ज्ञेयं च केशव', इसलिये पहले ज्ञान का निरूपण कर अब ज्ञेय का निरूपण कर रहे हैं।

दो

जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? वह कौन सी चीज़ है जिसे पाने की अभिलाषा हर-एक के हृदय में है ? जिसे पाने के बाद फिर और कुछ पाना शेष रह नहीं जाता ? उसी चीज़ को भगवान् ने गीता में 'ज्ञेय' कहा, जानने के योग्य कहा

'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्त्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।'

भगवान् ने कहा जो ज्ञेय है उसे मैं अच्छी तरह समझाकर कहूँगा। वेदान्त कहता है कि सब कुछ परमात्मा का ही विलास है। इसलिये हम लोगों की तीन स्थितियां बनती हैं पर हैं सभी परमात्मरूप। सामान्य जीव अज्ञात ब्रह्म की अवस्था में है। ब्रह्म को जानता नहीं इसी का नाम बन्धन है। बंधन कोई ऐसी चीज़ नहीं जो तुम्हे बाँधती है; ब्रह्मस्वरूप को नहीं जानते बस इसी का नाम बंधन है। अज्ञात ब्रह्म—यह बंधन की अवस्था। ब्रह्म कितना अज्ञात है ? इतना अज्ञात है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता इस बात को भी नहीं जानता। इस विषय में सामान्य ज्ञान भी नहीं कि इस सारे जगत् का कोई कारण, सब चीज़ों को चलाने वाला कोई उत्स है; यह भी नहीं जानता। घोर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है। नहीं जानता इतना ही नहीं, नहीं जानता इस बात को भी नहीं जानता। जैसे भारत के गाँव में चले जाओ और पूछो 'तुम्हें लेट्वियन आती है ?' तो वह पूछेगा 'अरे लेट्वियन बला क्या है ? चीज़ क्या है ?' वह लेट्वियन भाषा नहीं जानता इतना ही नहीं, वह कोई चीज़ है जिसे मैं नहीं जानता, यह भी नहीं जानता। ऐसे ही सारे जगत् को चलाने वाले परमात्मा को नहीं जानता इतना ही नहीं, उसे नहीं जानता इस बात को भी नहीं जानता। परन्तु परमात्मा का

प्रेम जीव के प्रति अत्यधिक है क्योंकि उसका स्वरूप है। अगर सर्वथा कभी न जाने तो प्रवृत्ति असंभव है। किसी चीज़ को किसी न किसी रूप में जानेगा तब आगे उसके विशेष ज्ञान के लिये प्रवृत्ति होगी। इसलिये परमात्मा जीव के अहम् में अपने प्रकाश को हमेशा जगाये रखता है। जीव तो इस बात को नहीं जानता कि कौन वह है जो मुझे चेतन कर रहा है, जो मुझे प्रकाशित कर रहा है। संसार में बड़े-बड़े पहाड़ हैं, समुद्र हैं, उनके सामने साढ़े पाँच छह फीट का आदमी कोई चीज़ नहीं है। परन्तु वे उतने बड़े पहाड़ भी इस बात को, मैं रूप से अपने आपको जानते नहीं। वहाँ चेतन का प्रकाश नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र परमात्मा का प्रकाश प्रकाशित हो रहा है इस बात को जीव नहीं जानता। फिर भी, 'मैं हूँ' इस बात को जानता है। इस 'मैं हूँ' के ज्ञान में परमात्मा का प्रकाश परमात्मा के प्रेम से प्रविष्ट हुआ है। कल शलभ के दृष्टांत से बताया था कि पहले दीपक का प्रकाश शलभ में घुसता है। इसी प्रकार तुम्हारे अहं में परमात्मा का चेतन-प्रकाश, ज्ञान-प्रकाश पहले प्रविष्ट हुआ है तब आगे तुम्हारी जिज्ञासा हो सकती है। अन्यथा कभी जिज्ञासा नहीं हो सकती, जैसे पहाड़ जिज्ञासा नहीं करता। तुम चाहे छोटे हो पर तुम में जिज्ञासा है। क्यों है ? क्योंकि तुम जानते हो। यह नहीं जानते कि तुम किसकी शक्ति से जानते हो, पर जानते हो। क्योंकि जानते हो इसलिये जानते हो मैं दुःखी हूँ, सुखी हूँ। दुःख न हो तो हममें यह जिज्ञासा नहीं बनेगी कि हमारा दुःख दूर कैसे होवे। हमें कभी दुःख न हो इस बात के लिए प्रवृत्ति ही नहीं बनेगी। इतना उपयोगी है तो हमें दुःखी ही बना देते, सुख क्यों देते हैं ? आग में रहने वाला कीड़ा आग की गर्मी जानता है, बर्फ की ठण्डक जानता नहीं, इसलिये उसमें कोई जिज्ञासा नहीं, जैसा है वैसा है। यदि हम केवल दुःख का ही अनुभव करते, सुख का पता न होता तो भी सुख का अन्वेषण न करते। परमेश्वर की अत्यंत करुणा है। हमारे अहम् में प्रवेश कर हमें चेतन बनाते हैं, ज्ञान वाला बनाते हैं, फिर हमें सुख-दुःख दोनों का ज्ञान देते हैं। जब दोनों का ज्ञान देते हैं तब जिज्ञासा होती है कि क्या कोई तरीका है जिससे हमें दुःख कभी न हो, सुख हमेशा बना रहे ? प्रायः लोग यह नहीं समझ

पाते कि दुःख का निर्माण परमेश्वर ने क्यों किया। दुःख के बिना जिज्ञासा नहीं होती। ऐसे ही सुख के अनुभव के बिना सुख प्राप्ति के प्रति प्रवृत्ति ही न होती। अज्ञात ब्रह्म की अवस्था ऐसी है जिसमें हम सुख-दुःख को जानते हैं पर सुख-दुःख क्यों जाना जा रहा है, इसकी वास्तविकता क्या है इस बात की तरफ ख्याल ही नहीं जाता। रात-दिन हम सोचते रहते हैं कि इस विषय के मिलने से सुख व इससे दुःख हो गया। अतः विषय से दूर होते या उसे प्राप्त करते हैं। भगवान् की सृष्टि विलक्षण है : जिस विषय को तुम सुख का कारण समझते हो वही कालांतर में, देशान्तर में, अवस्थांतर में दुःख का कारण बन जाता है। ऐसे ही सुखहेतु दुःखदायी बन जाता है। इसलिये जिससे हमें दुःख की आशा होती है, कई बार उससे सुख हो जाता है।

एक सज्जन हैं। आज से तीस वर्ष पूर्व उनके एक लड़की पैदा हुई, बड़े दुःखी हुए। हमने जब पूछा 'तुम्हारे यहाँ बच्चा होने वाला था क्या हुआ ?' नीची नज़र कर बोले 'लड़की हुई है।' हमने पूछा 'फिर दुःखी कैसे ?' कहने लगे 'लड़की पैदा होने से दुःख तो हो ही जाता है।' परमेश्वर की लीला बड़ी विचित्र है। आज से तीन साल पहले की बात है। उनके चार लड़के हैं, सभी अपने-अपने कार्यों के लिये स्थानांतरों पर चले गये, उन्हें पिता को सँभालने की फुर्सत नहीं। लड़की का ब्याह दिल्ली में ही हुआ। वे सज्जन हमसे कहने लगे 'महाराज यदि यह लड़की न होती तो मेरी बड़ी दुर्दशा होती, इसी से मैं बचा हुआ हूँ।' हमें तीस साल पुरानी बात याद आ गयी, हमने पूछा 'जब वह पैदा हुई थी तब तो तुम बड़े दुःखी हुए थे ?' शर्माकर कहने लगे 'जीवन में अनुभव ठीक विपरीत हो गया। जिन लड़कों के पैदा होने पर बड़ी-बड़ी पार्टियां दीं वे आज मेरे किसी काम के नहीं। जिस के जन्म पर मैं दुःखी हुआ था वह मेरे आज बचे रहने का कारण है।'

ऐसे ही कोई धन को सुख का कारण समझता है, पर वही धन दुःख का हेतु हो जाता है। भागवत कहता है 'नृपाश्चौरा भविष्यन्ति सम्प्राप्ते तु कलौ युगे', कलियुग में राजा चोरी-डकैती करेंगे। पहले शायद छिपकर

डकैती करते होंगे, पता नहीं। आजकल तो खुल कर डकैती करते हैं, स्पष्ट कहते हैं 'हम रेड करने गये', रेड अंग्रेज़ी में डकैती को कहते हैं। उन्हें इसमें कोई शर्म नहीं। अत्यंत सुख का कारण माना हुआ धन उस समय दुःख का कारण हो जाता है जब डकैती पड़ती है। अन्यत्र भी ऐसा ही है।

परमेश्वर ने न हमें केवल दुःख-सुख दिये, न केवल ज्ञानरूप से हमें चेतन बनाया, वरन् संसार के विषय ऐसे बनाये कि कभी दुःख देवें व कभी सुख देवें। इसलिये कभी न कभी यह विचार जागृत हो जाता है 'अरे यह दुःख-सुख विषयधर्म है या और किसी का ? कौन सी चीज़ हमारे दुःख-सुख का कारण है ?'

जब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सुख का कारण कौन, तब उसे जानने की प्रवृत्ति होती है। सारे जगत् का प्रवर्तक ही उसका कारण है। यह प्रश्न उठता है 'वह मैं कौन हूँ जो कभी सुखी व कभी दुःखी होता हूँ ? मेरी वास्तविकता क्या है ?' ब्रह्म तो अभी भी अज्ञात है लेकिन अब तुम उसे जानना चाहते हो इसलिये वह ज्ञेय ब्रह्म हो गया। वह जानने योग्य हो गया। यह साधक की अवस्था है। संसार के बंधन की अवस्था में पड़ा हुआ अज्ञात ब्रह्म। जब उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, साधक बना, तब ज्ञेय ब्रह्म। जानना चाहता है कि यह सारा खेल क्या है, किसने बनाया है, मैं कौन हूँ, मेरी वास्तविकता क्या है ? कभी हम सारी कोशिश कर जो नहीं कर पाते वह खुद-ब-खुद हो जाता है ! भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि संसार में घटनायें ऐसे ही अचानक होती हैं जैसे हवा अकस्मात् बहती है व अकस्मात् ही रुक जाती है। कई बार आश्रम में जो आये वह रसगुल्ला ही लाता जाता है तो बहुत रसगुल्ले हो जाते हैं और फिर कई दिनों तक रसगुल्ला नहीं, बाकी चाहे जो आता रहता है। क्यों ? तो कुछ कहा नहीं जा सकता। संसार की हर चीज़ का विचार करो तो पाओगे कहाँ से कब क्या आ जाये इसका ठिकाना नहीं, कब बंद हो जाये इसका भी ठिकाना नहीं। ज्ञेय ब्रह्म की अवस्था में साधक अपने आप को, इस सारी सृष्टि को चलाने वाले को जानना चाहता है।

जब साधना में प्रवृत्त हो गया, जिज्ञासा में लग गया, तब अनेक सोपानों द्वारा, सीढ़ियों द्वारा, जाकर अन्त में इसकी ज्ञात ब्रह्म की अवस्था बनेगी। जब यह ज्ञात हो जायेगा तब उसी का नाम मोक्ष है। बंधन, अज्ञात ब्रह्म की अवस्था। साधन, ज्ञेय ब्रह्म की अवस्था। मुक्ति, ज्ञात ब्रह्म की अवस्था। इसलिये बंधन हो, साधना हो या मोक्ष हो, सब कुछ है परमात्मस्वरूप ही। प्राणिमात्र चाहता है हमें पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हो। छोटे से छोटा कीड़ा भी पूर्ण आनन्द चाहता है। पूर्ण स्वतंत्रता चाहता है। छोटे बच्चे का भी हाथ ज़बर्दस्ती पकड़ो तो ज़ोर से टाँग मारता है। कीड़े को भी दबाकर रखो तो छटपटाता है। ऐसे ही पूर्ण ज्ञान सब चाहते हैं। यह सहन नहीं होता कि कुछ जाना जा सकता है और मैं उसे जान नहीं रहा। दो आदमी बात कर रहे हों और तीसरे के आते ही चुप हो जायें तो तीसरा ज़रूर पूछेगा 'क्या बात कर रहे थे ?' उससे कहें भी 'अरे तुम्हारे मतलब की बात नहीं है।' तो भी भीतर छटपटाता है जानने के लिये। इसी तरह पूर्ण निर्भयता की प्राप्ति सबको अभिलषित है। भय कभी कोई नहीं चाहता।

एक बार व्यास जी और नारद जी घूमते हुए कहीं जा रहे थे। अकस्मात् एक मकोड़े को देखा, बड़ी ज़ोर से भाग रहा था। नारद जी पशु-पक्षियों की भाषा भी जानते हैं। उन्होंने उससे भागने का कारण पूछा। कीड़े ने कहा 'अभी रुको, किनारे पहुँच जाऊँ तब बताता हूँ।' जब सड़क से हट कर किनारे पहुँचा तब उनसे कहने लगा 'जी आप लोगों के कान कम काम करते हैं ! एक रथ आ रहा है। मुझे उसकी घरघराहट सुनाई दे रही है। वह पास पहुँच जाता तो मेरा बचना मुश्किल था इसलिये पहले ही रास्ते से हट रहा था।' छोटे प्राणियों में बहुत सूक्ष्म सामर्थ्य होता है। मक्खी को चाहे जितनी सावधानी से पकड़ना चाहो उसे झट मालूम पड़ जाता है, उड़ जाती है। मक्खी की आँख में छह शीशे होते हैं जबकि हमारे पास दो ही शीशे हैं। इसलिये सारे कोणों से वह देख पाती है। उनकी रक्षा के लिये ज़रूरी इन्द्रियशक्ति परमेश्वर ने उन्हें दी है। देवर्षि नारद कहने लगे 'अरे तेरी बड़ी निकृष्ट योनि है ! मर ही जाता तो क्या हो जाता?

इस शरीर में रहकर कौन सा फायदा है ?' मकोड़े ने जवाब दिया 'नारद जी, जैसे आपको अपना जीवन प्रिय है, जैसे आप निर्भय रहना चाहते हैं वैसे ही मुझे अपना जीवन प्रिय है, मैं भी निर्भय रहना चाहता हूँ।' प्राणिमात्र पूर्ण निर्भयता चाहता है। पूर्ण आनंद, ज्ञान, निर्भयता चाहता है, पर प्रेम कर लेता है अपूर्ण आनंद से, अपूर्ण ज्ञान व निर्भयता से ! अपूर्ण से पूर्ण कैसे मिले ? उससे तो अपूर्ण ही मिलेगा। इसलिये कभी जीव को तृप्ति होती नहीं। पूर्ण आनन्दादिरूप तो केवल परब्रह्म परमात्मा है। याज्ञवल्क्य ने जनक को अध्यात्मविद्या का उपदेश देकर उसे जो प्रमाणपत्र दिया उसमें वे कहते हैं 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि' अरे जनक ! तू अभयपद को प्राप्त हो गया, तेरे लिये अब भय नाम की चीज़ नहीं रह गयी। किसी भी परिस्थिति में भय न हो सके यह पूरी निर्भयता है। अपूर्ण निर्भयता का मतलब ही है कि कुछ भय है। भय देने वाली चीज़ें इकट्ठा कर पूर्ण अभय नहीं मिला करता और कोशिश इसी की लोग किया करते हैं। हम समझते हैं कि पदार्थ हमारे पास होंगे तो हम निर्भय हो जायेंगे। कभी सोचने का प्रयास किया कि भय होता ही किससे है ? पदार्थों से ही तो भय होता है। कमण्डलुमात्र रखने वाले बाबा जी सर्वथा निर्भय होकर आनंद से सो जाते हैं। भक्त प्रेम से कपड़े बर्तन आदि भेंट कर देते हैं। उस सब सामान को साथ लेकर जब चलते हैं तो डर है कि कहीं कुली माल लेकर भाग न जाये ! क्यों ? पदार्थ एकत्र हो गये, इसलिये। जिसे यह समझ आ गया कि निर्भयता पदार्थों से हो नहीं सकती, वह जानेगा कि भय का निमित्त हमारा शरीर है, वासनायें हैं, कामनायें हैं; इन सब को मैं हटा दूँगा तो निर्भय हो जाऊँगा। समझ-बूझ के बाद के वैराग्य से ही नहीं ज़बर्दस्ती के वैराग्य से भी निर्भयता आ जाती है।

स्टैलिन के ज़माने में रूस में अणुशास्त्र का एक बहुत बड़ा विद्वान् वैज्ञानिक था। उससे अन्वेषण कराना था पर अन्यत्र सूचनायें न जा सकें इसलिये उसे जेल में बंद कर अन्वेषण कराया जाने लगा। जेलर तो उससे जेली का व्यवहार ही करता था जिससे भोजन, वस्त्रादि वस्तुएँ कुछ भी मन लायक मिलें नहीं। फिर भी प्रयोग कर रहा था। अमेरिका से

प्रतियोगिता का युग था। अतः स्टैलिन बार-बार खबर भेजे जल्दी करने के लिये। जेलर बार-बार जाकर जल्दी करने को कहा करे। मास्को से आखिर सूचना आयी कि दो महीने में वह काम अवश्य पूरा होना चाहिये। जेलर ने उस वैज्ञानिक से कहा 'यदि दो महीने में तुमने कार्य पूरा नहीं किया तो तुम्हें मैं ठीक कर दूँगा।' वैज्ञानिक अट्टहास कर हँसा और बोला 'बेवकूफी की बात मत करो ! मुझे ठीक क्या करोगे ? कोट मेरा फटा हुआ है, इस बर्फीली ठण्ड में रात को ओढ़ने के लिये दो कम्बल मेरे पास हैं नहीं। खाने के लिये भरपेट तुम देते नहीं। इससे कम दोगे तो मैं मर जाऊँगा और देश में दूसरा कोई है नहीं जो इस काम को कर सके। तुम क्या ठीक करोगे ? जो कुछ कर सकते थे वह तो कर दिया, अब क्या करोगे ? मैं मर गया तो तुम्हे ही दण्डित होना पड़ेगा क्योंकि इस कार्य में कोई और सक्षम मिलेगा नहीं।' अपनी जीवनी में उस वैज्ञानिक ने लिखा है कि किसी को भय दिखाने के लिये उसके पास कोई पदार्थ होना चाहिये। जो वस्तुओं का मालिक होगा उसी पर शासन चलाया जा सकता है।

इस बात को हमारे ऋषियों ने समझा। क्यों उन्होंने संन्यासी के लिये सर्वस्वत्याग बताया ? क्योंकि यदि उसके पास कुछ होगा तो उसके खोने का भय उसे सच नहीं बोलने देगा। वह सत्य को दबायेगा। जब उसके पास कुछ है नहीं, उसे कुछ चाहिये नहीं तो उसे राजा भी कुछ कर नहीं सकेगा। हम समझते हैं कि पदार्थों से निर्भय होंगे जबकि पदार्थ ही हमें भय देते हैं। ऐसे ही वे हमें परतंत्र बनाते हैं। जितनी चीज़ें हमारे पास होंगी उतने ही हम परतंत्र होंगे। इसी प्रकार पदार्थ होने से हम दुःखी होते हैं। पदार्थों से सुख होने वाला नहीं। परीक्षा में दस सवाल आये और उनमें कोई पाँच करने हैं तो परेशानी होती है, निश्चय करना पड़ता है कि कौन सा प्रश्न अच्छी तरह आता है। चुनाव का मौका है इसीलिये दिक्कत है। चुनाव न हो तो कोई मुसीबत नहीं। यदि दो ही धोतियाँ हैं तो एक पहनो एक धोकर सुखा दो, कोई समस्या नहीं। यदि भगवान् ने तुम्हें दुःखी करने के लिये पचास साड़ियाँ दे दीं तो झंझट ही झंझट है।

सारा वैज्ञानिक प्रवाह यही मानकर बह रहा है कि छोटी से छोटी चीज़ें जानेंगे तो हमारा ज्ञान विकसित हो जायेगा, बढ़ जायेगा। किसी बुद्धिमान् वैज्ञानिक ने तो स्पष्ट कर ही दिया है कि विशेषज्ञता का मतलब है कम के बारे में अधिक जानना। हृदय के जानकार डाक्टर को घुटने के दर्द की दवा मालूम नहीं। हड्डी के विशेषज्ञ भी घुटने का दर्द नहीं ठीक करेंगे, उसके लिये 'रुमेटोलाजिस्ट' के पास जाना होगा। मनुष्य के शरीर के एक-एक अंगों के ज्ञान भी जब पूर्ण नहीं हैं तो विचार करो क्या कभी छोटे-छोटे ज्ञानों से पूर्णज्ञान हो सकेगा ? जैसे नगाड़ा मढ़ने के लिये एक भैंसे का चमड़ा ही चाहिये, दो चार सौ मेढ़कों के चमड़े सिलकर नगाड़ा नहीं मढ़ सकते, ऐसे ही छोटे-छोटे ज्ञान मिलकर कभी पूर्ण ज्ञान हो नहीं सकते। जब एक अखण्ड पूर्ण ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी तभी वह स्थिति होगी जिसमें सभी कुछ जान लिया जायेगा। अपूर्ण ज्ञानों को एकत्रित कर कभी पूर्ण ज्ञान होने वाला है नहीं।

स्वातन्त्र्य, सुख, अभय आदि की पूर्णता की अंतिम अवधि पर ब्रह्म परमात्मा है। शास्त्रकार कहते हैं कि वही सर्वज्ञ है, वही पूर्ण तृप्त है, उससे दूसरा है नहीं जिससे उसे भय होवे। उस पर नियंत्रण करने वाला कोई नहीं इसलिये उसी में पूर्ण स्वतंत्रता है। यह ज्ञेय ब्रह्म है जिससे हमारी अभिलाषा पूरी हो सकती है। उसे भगवान् बता रहे हैं। इससे पूर्व ज्ञान को बताया था।

ज्ञानसाधना के अंगों में मान, दम्भ, हिंसा आदि का त्याग, क्षमा, ऋजुता आदि बताये थे जिन सब का संग्रह आचार्य शंकर ने दो शब्दों में किया 'यमा नियमाश्च अमानित्वादयः', मन को और शरीर को नियंत्रित करना यही अमानित्वादि धर्म हैं। मन से साध्यों को यम और शरीर से साध्यों को नियम कहते हैं। किन्तु ज्ञान यम-नियम से कैसे होगा। वह तो प्रमाणों से हुआ करता है ? अमानित्वादि को ज्ञान क्यों कहा गया है ? ये स्वतः ज्ञान को उत्पन्न करते हों ऐसा नहीं है। इनके बिना सूक्ष्म ज्ञान उत्पन्न होता नहीं इसलिये इन्हें ज्ञानहेतु होने से ज्ञान कहा गया। यदि उन साधनों से ही ज्ञान हो जाता तो पृथक् ज्ञेय का वर्णन न करना पड़ता।

उन्ही से ज्ञेय को जान लेते। उन सब साधनों के होने पर शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसीलिये साधनों का प्रतिपादन कर भगवान् ने ज्ञेय बताया। उस तैयारी के बाद ही ज्ञेय की तरफ चित्त एकाग्र हो सकता है। साधनों को एकत्र करने के बाद ही ज्ञेय समझने के लिये साधक तैयार हो चुकता है। ज्ञान की एक विलक्षणता है और वह भी केवल ब्रह्मज्ञान की; बाकी सब चीज़ें जानने के बाद तुम्हें कुछ करना पड़ता है, तब फल मिलता है। मलेरिया की दवा कुनैन है यह जानकर कुनैन खाने का काम किये बिना केवल उस ज्ञान से मलेरिया नहीं चला जाता। प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, कुछ करने पर ही ज्ञान सफल होता है यही सर्वत्र देखा जाता है। ज्ञान फल देने के लिये किसी न किसी क्रिया की, व्यापार की अपेक्षा रखा करते हैं। मनुष्य इसी संस्कार से परमात्मज्ञान के बाद भी कुछ करने पर ही फल मिलेगा यह समझता है। पर भगवान् करुणामय हैं ! वे कहते हैं 'मेरे पास आ गया फिर भी कुछ करना पड़े यह कैसे शोभा देगा ?' अरबपति के घर पैदा होने पर भी यदि घास काटने से ही रोटी मिले तो उसके घर पेदा होने की क्या विशेषता ? जब मैं परमात्मा के सामने पहुँच गया, उन्हें मैंने देख लिया, फिर भी कुछ करना बाकी रहे यह कैसे हो सकता है ? 'यज्ज्ञात्त्वामृतमश्नुते' उन्हे तो जानते ही अमृत मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् के वाक्य से ही ज्ञेय का पता लगेगा और ज्ञेय का साक्षात्कार होते ही तुम्हें अमरता, पूर्ण ज्ञानादि प्राप्त हो जायेंगे। ज्ञान के बाद कुछ करना नहीं पड़ेगा। आज तक हम भिखमंगों से भीख माँगते रहे। जो स्वयं मंगता है वह हमें क्या देगा ?

दक्षिण में एक प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं रमण महर्षि। उनके स्थान में मातृभूतेश्वर महादेव का मंदिर बनाने का विचार हुआ। लोग सूची बना रहे थे कि किस-किस भक्त से मंदिर के लिये कितना मिलेगा। महर्षि वहाँ बैठे थे पर सब को लगा कि उन्हें वह सूची बनाना अच्छा नहीं लग रहा है। उनसे कहा 'इसमें कोई बात गलत हो तो बता दें, ठीक कर लेंगे।' पहले तो उन्होंने कहा 'जो मर्ज़ी सो करो।' पर कहा इतनी वितृष्णा से कि सब को बहुत बुरा लगा। बहुत अनुनय करने पर उन्होंने कहा 'जितने

सेठों के तुमने नाम लिखे हैं वे तो यहाँ आकर नाक रगड़ते हैं अपने लिये माँगने के लिये, और तुम उनसे माँगने जाओगे ? तुम सोचते हो वे देंगे पर वे तो खुद ही माँगने वाले हैं !' कहीं जाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। वहीं बैठे-बैठे सारी व्यवस्था हो गयी, मंदिर बन गया। सारी शक्तियों का केन्द्र जो परमात्मा उसे छोड़कर हम सोचते हैं कि कहाँ से मिलेगा। मँगतों से ही हम माँगते हैं। 'मँगता' केवल आदमी ही नहीं सभी अपूर्णों को मँगता समझो। रसगुल्ले से स्वाद माँगते हैं, कपड़े से गर्मी माँगते हैं। जहाँ से रसगुल्ला मिठास पा रहा है, कपड़ा गर्मी पा रहा है वह पूर्ण है। अपूर्णों के सामने पल्ला पसारते रहने से अब तक हमेशा अतृप्ति रही है। जब उस पूर्ण आनन्द स्वरूप के सामने चले जायेंगे तब कुछ और करने को नहीं रह जायेगा। अपरोक्ष साक्षात्कार से तत्काल समग्र पूर्णता प्राप्त होती है। व्यापकभाव से पूर्णता प्राप्त हो जाती है। वह ज्ञान भगवान् यहाँ बता रहे हैं जिसे पाकर ही पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है।

तीन

चरम लक्ष्य बताते हुए भगवान् ने कहा

'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तद् नासदुच्यते।।'

जो जानने लायक चीज़ है, जिसे जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है उसे मैं भली-भाँति बताऊंगा। परमेश्वर की तरफ जाने के दो रास्ते हो सकते हैं, दो प्रकार से हम परमात्मा की सपर्या कर सकते हैं। एक है मानने का रास्ता व दूसरा है जानने का रास्ता। सनातन धर्म से अतिरिक्त संसार के सभी मत-मतान्तर मज़हब मानने का विचार करते हैं, जानने के बारे में उन्हें बड़ी घबराहट है। यहूदी-मुसलमान-ईसाई इन सेमेटिक धर्मों में तो प्रत्यक्षरूप से कहते हैं कि ज्ञान ही बन्धन का कारण है, ज्ञान से बचो। उनकी कथाओं का प्रारंभ यहीं से होता है कि ज्ञान के वृक्ष का फल खाने का यहोवा, गोड या अल्लाह ने मना किया पर जब मनुष्य ने खाया तभी वह गड़बड़ाया। इसलिये वे लोग बार-बार कहते हैं मानो, जान नहीं सकते। सनातन धर्म मानने और जानने दोनों रास्तों का विचार करता है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि परमात्मा के दोनों रूप हैं: मानने का रास्ता है ध्येय ब्रह्म का, जानने का रास्ता है ज्ञेय ब्रह्म का। परमात्मा के स्वरूप को परोक्षरूप से समझकर उसका बार-बार चिंतन ध्यान इत्यादि करना, यह ध्येय ब्रह्म का मार्ग है। परमात्मा के रूप को समझा तो इसमें भी जाता है पर परोक्षरूप से, प्रत्यक्ष, अपरोक्ष नहीं। ज्ञेय ब्रह्म के तो अपरोक्ष ज्ञान की ही आवश्यकता है। परोक्ष ज्ञान से अमरत्वप्राप्ति भगवान् ने नहीं कही है बल्कि साक्षाद् ज्ञान से है। अंत में भी भगवान् कहेंगे 'मद्भक्त एतद् विज्ञाय' मेरा भक्त मेरे इस परम स्वरूप का विज्ञान करने से मद्भाव को प्राप्त कर जाता

है, उसमें व मुझ में कोई फर्क रह नहीं जाता। यहाँ का 'ज्ञात्वा' और वहाँ का 'विज्ञाय' एक ही है। उस जानने मात्र से अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। मृत का मोटा अर्थ होता है मरना। छांदोग्योपनिषत् कहती है 'यद् अल्पं तद् मर्त्यम्' परिच्छिन्नता, अल्पता ही मृत्यु है। इसीलिये अमरता का कल तात्पर्य बताया पूर्णता की प्राप्ति। 'अमृतमश्नुते' पूर्णभाव को प्राप्त हो जाता है। परिच्छिन्नभाव, अल्पभाव, सीमितभाव, यही तो मृत्यु है। सामान्य लोग समझते हैं शरीर छूटना मृत्यु है। विचार कर देखो तो शरीर रोज़ ही थोड़ा-थोड़ा छूट रहा है। जैसे कपड़े से रोज़ आधा इंच कपड़ा फाड़ते जाओ तो अपने-आप थोड़े दिनों में कपड़ा समाप्त हो जाता है, ऐसे ही शरीर में निरंतर विकार हो रहे हैं। बचपन का शरीर जवानी में व जवानी का बुढ़ापे में नहीं रहा। भगवान् ने भी मृत्यु का स्वरूप ऐसे ही समझाया 'कौमारं यौवनं जरा तथा देहान्तरप्राप्तिः' जैसे कुमार-युवा-जीर्ण-अवस्थाओं में शरीर बदल रहे हैं वैसे ही नया शरीर मिलना भी है। निरंतर बदलने वाले शरीर-मन के साथ हम अल्पभाव, परिच्छिन्नभाव को प्राप्त किये हुए हैं, उससे हटकर ही अमरता की प्राप्ति है, पूर्णता की प्राप्ति है। यह जिसे जानकर होता है उस पूर्णतत्त्व को भगवान् बताने जा रहे हैं।

किसी को जानकर कोई चीज़ बदला करती है क्या ? रात-दिन हम अपने को सीमाओं में अनुभव कर रहे हैं। भगवान् ने विलक्षण बात कही 'तुम्हे मैं वह ज्ञेय ब्रह्म बताऊंगा जिसे जानकर तुम मृतभाव छोड़कर अमृतभाव को प्राप्त कर जाओगे।' ज्ञान से जो वस्तु है वैसा उसका पता लगा करता है, ज्ञान से कभी किसी वस्तु के स्वभाव में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। सामने घड़ा है तो जैसा वह है वैसा तुम उसे जानोगे। तुम्हारे जानने से क्या उस घड़े में परिवर्तन होना संभव है ? तब भगवान् ने ऐसा क्यों कहा ? भगवान् ने कोई नयी बात कही हो ऐसा भी नहीं। वेद भी बार-बार यही कहता है 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' उसका ज्ञान करके ही तुम मृत्यु से परे चले जाओगे, सारी परिच्छिन्नतायें छोड़कर पूर्णभाव प्राप्त कर लोगे। ऐसे ही प्रसिद्ध है 'ऋते ज्ञानाद् न मुक्तिः', 'ज्ञानादेव तु

कैवल्यम्' । श्रुति ने अनेक स्थलों पर ज्ञान से अमरता की प्राप्ति की प्रतिज्ञा की है। विचार करो, क्या कोई ऐसा भी स्थल है जहाँ ज्ञान से परिवर्तन आता है ? यदि हम किसी वस्तु को समझते हैं कि जान रहे हैं परंतु उसकी वास्तविकता को जान नहीं रहे; जैसे मन्द अँधेरे में हमें कमरे में एक साँप दिखायी दिया, हम डरे भी पर हिम्मत कर हमने बिजली चालू की, प्रकाश हो गया। अब स्पष्ट प्रकाश में हमें दीखता है कि वहाँ रस्सी है। जहाँ हमें साँप दीखा था वहीं स्पष्ट प्रकाश में हमें रस्सी दीख रही है। इसका मतलब है कि जब मैं समझ रहा था कि मुझे सर्प का ज्ञान हो रहा है तब वहाँ सचमुच में थी रस्सी, मुझे सिर्फ लग रहा था कि साँप है। जहाँ वस्तु भ्रम से दीखी हो उस स्थल पर वस्तु गलत ढंग से दीखती है। वास्तविकता न जानने से हमें कुछ और दीख गया हो तो वहाँ जब हमें चीज़ का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है तो जो हमने भ्रम से देखा था वह हट जाता है। बारम्बार श्रुति और यहाँ भगवान् भी ज्ञान से अमरता कहते हैं। इसका मतलब है कि जहाँ हमें परिच्छिन्नता दीख रही है वहाँ परिच्छिन्नता है नहीं; है वहाँ पूर्णता लेकिन भ्रम के कारण हमें अपूर्णता की प्रतीति हो रही है; जैसे ही साफ प्रकाश में हम उसे जानेंगे वैसे ही भ्रम से होने वाली चीज़ निवृत्त हो जायेगी।

हमें दीख क्या रहा है ? हमें दीख रहा है 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी-दुःखी हूँ, किसी देश काल में हूँ, किसी शरीर में बँधा हूँ।' यदि दिल्ली में हूँ तो कलकत्ता में नहीं, यह देश की परिच्छिन्नता। यदि बीसवी शती में हूँ तो पाँच हज़ार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण के समय में नहीं था, यह काल की परिच्छिन्नता। यदि मैं मनुष्य हूँ तो गधा नहीं, यह है शरीर की, वस्तु की परिच्छिन्नता। इस प्रकार मुझे प्रतीत हो रहा है कि मैं परिच्छिन्न हूँ। इसी प्रकार मुझे प्रतीत हो रहा है मैं कर्ता हूँ कुछ करने वाला हूँ। करना है क्या ? चीज़ों में अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन जब हम करते हैं तब कुछ कर्म करते हैं। परिवर्तन मैं करता हूँ। क्योंकि सब परिवर्तनों को करने वाला मैं नहीं, इसलिये परिच्छिन्न हूँ। संभवतः जीवन में सौ में शायद अस्सी काम जिन्हें मैं करना चाहता हूँ उन्हें कर नहीं पाता, और बीस भी

मुश्किल से कर पाता हूँ। यद्यपि हमें इसमें भी संशय है। अतः करने में भी हमारी परिच्छिन्नता है। मैं भोक्ता हूँ, भोग करता हूँ; इसमें भी मैं परिच्छिन्न हूँ। दो हज़ार रसगुल्ले बने हैं तो चाहता हूँ कि सारे अकेले खा जाऊँ, पर पचास खाते-खाते गले तक भर जाता है, और खा पाता नहीं। पेट भर जाता है, मन भरता नहीं। जितना मैं भोग करना चाहता हूँ उतना मैं कर नहीं सकता। सर्वत्र सीमा की प्रतीति है। यह जो सीमा का भाव, मृतभाव है यह ज्ञान से तभी हट सकता है जब यह सच्चा न हो, केवल अज्ञान से हो। इसीसे भगवान् भाष्यकार ने सूत्रभाष्य के प्रारंभ में ही समझाया कि संसार किस प्रकार भ्रम से है। हमें जितनी प्रतीतियां हो रही हैं सब भ्रम से हो रही हैं, परमात्मा को नहीं जानने से हो रही हैं।

कोई गाँव का आदमी चलचित्र देखने चला जाये तो जो उसका हाल होगा वही हमारा है। गाँव में नौटंकी हुआ करती है जिसमें नट-नटी स्वयं आकर खेल खेलते हैं। यदि किसी का अभिनय बहुत अच्छा होता है तो लोग ताली बजाकर कहते हैं 'एक बार फिर ! एक बार फिर !' वह नट तो चेतन होता है, पुनः उस क्रिया को दिखा देता है। यदि क्रिया बहुत बुरी हो तो लोगों को गुस्सा आता है, गालियाँ बकने लगते हैं, जूता भी फेंक कर मार देते हैं। ऐसी नौटंकी देखने वाला ग्रामीण व्यक्ति सिनेमा में पहुंचे तो लोग क्रिया करते हुए उसे वैसे ही दीखते हैं जैसे नौटंकी में। किसी दृश्य पर उसे गुस्सा आता है तो वह जूता उठाकर फेंकता है। ऐसे ही कोई दृश्य अच्छा लगता है तो कहता है 'फिर एक बार ! फिर एक बार !' पर होता कुछ नहीं। चाहे जितना पुकारे 'फिर एक बार', वह दृश्य पुनः दीखता नहीं, आगे ही चलता जाता है। जूता मारने का भी कोई असर होता नहीं। क्यों ? क्योंकि वहाँ सच्चा कोई नट है नहीं। सच्चा तो वहाँ पर्दा है। उससे अतिरिक्त वहाँ जो भी दीख रहा है वह केवल छायामात्र है। प्रकाश और छाया का ही वहाँ खेल है, और वहाँ वास्तविक कुछ नहीं है। इसलिये जानकार लोग कभी सिनेमा में जाकर ताली बजाकर नहीं कहते 'फिर एक बार !' जानते हो जो दृश्य गया वह गया।

कोई गाँव का आदमी अमेरिका में कोई चलचित्र देखने पहुँच गया। वहाँ सुबह नौ बजे से रात तीन बजे तक सिनेमा चलता ही रहता है। वह व्यक्ति नौ बजे देखने गया। एक बार पूरा देखने के बाद दौड़कर फिर टिकट ले आया और पुनः देखने लगा। यह श्रम वह दिनभर करता रहा। मैनेजर को आश्चर्य हुआ कि उसे उस चित्र में कौन सी चीज़ इतनी अच्छी लगी कि वह बारम्बार देख रहा है ? उसने पूछा तो वह ग्रामीण बोला, 'अरे बढ़िया की बात नहीं है। इसमें नायिका जैसे ही नहाने के लिये अपने वस्त्र उतारने लगती है उसी समय रेल सामने से निकल जाती है. उसका कपड़े उतारना व नहाना दीखता नहीं। मैं सोचता हूँ कि कभी न कभी तो रेल देर से आयेगी और दीख जायेगा। इसीलिये बार-बार देख रहा हूँ।' जो समझता है कि वहाँ वास्तविकता है वह कहता है ऐसा हो और ऐसा न हो। पर जो जानता है उसे मालूम है कि यदि उस चित्र में उस समय वहाँ रेल निकलनी है तो हमेशा निकलनी ही है। उसमें कोई परिवर्तन होगा नहीं। इसलिये जानकार उसे बदलने के लिये कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं करता।

ऐसे ही जब यह पता लग जाता है कि यहाँ पर्दे की जगह परब्रह्म परमात्मा के सिवाय कुछ नहीं है, अधिष्ठानभाव सत्य है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सिवाय उस परमात्मा के यहाँ कुछ नहीं है। चलचित्र दीखते समय पर्दे का भान होता भी है और नहीं भी। पर्दे का पर्देरूप से भान नहीं होता परंतु यदि पर्दे का भान न हो तो सारे चित्र नज़र कैसे आवें ? इसलिये पर्देरूप से भान न होने पर भी सारे चित्रों के आधाररूप से भान है भी। इसलिये भ्रम का विचार करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि जो अध्यस्त है, भ्रम से दीख रही है वही भ्रम में स्फुरती है, और कुछ नहीं।

'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु
नान्यत् कथञ्चन परिस्फुरति भ्रमेषु।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्व-
चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन।।'

जो अध्यस्त नहीं अर्थात् अधिष्ठान वह भ्रम में प्रतीत नहीं होगा। जब साँप दीखता है तो रस्सीपने को नहीं देख सकते। रस्सी की लम्बाई-मुटाई और साँप की लम्बाई-मुटाई एक ही है। रस्सी रस्सीपने वाली भले ही न दीखे, उसकी लम्बाई-मुटाई, पुरोवर्तिता (सामने होना) दीख रही है। पर यह सब दीख साँप में रहा है। इसी से भ्रम दो प्रकार का होता है। कहीं भ्रमसिद्ध पदार्थ स्वरूप से ही कल्पित होता है। कहीं चीज़ वास्तविक होती है परंतु वह छिपकर वह किसी भ्रम के साथ दिखायी देती है। कहीं स्वरूपाध्यास है, कहीं संसर्गाध्यास है। जिस चीज़ के केवल संसर्ग का भान हो रहा है वह चीज़ तो सच्ची है परंतु उसके साथ जो चीज़ें दीख रही हैं वे अध्यस्त होने से वह ज्ञान भी अध्यस्त है। संसार के सब पदार्थ 'है' इस रूप से दीखते हैं। यदि वस्तु वहाँ नहीं है तो नहीं है रूप से दीखती है। इसीलिये भगवान् ने यहाँ परमात्मा के बारे में स्पष्ट कह दिया 'न सत्तद् नाऽसदुच्यते।' संसारे के पदार्थ या सद् अर्थात् है रूप से दीखते हैं या नहीं है रूप से दीखते हैं। नहीं है के अंदर भी है तो बैठा ही हुआ है। बिना है के तो नहीं है का भी भान नहीं होगा। कोई चीज़ है तो उसका ज्ञान भी ज़रूर है। यह सच्चिद्रूपता तो हमें संसार के पदार्थों में दीख रही है। यह वस्तुतः तो पूर्ण परमात्मा में है लेकिन संसर्ग के कारण प्रतीत हो रही है पदार्थों में। परन्तु जो संसार के पदार्थ हैं वे स्वरूप से अध्यस्त हैं। वे वस्तुतः नहीं हैं। परमात्मा का जो अधिष्ठानरूप है उसे भगवान् ने कह दिया : जिस प्रकार चीज़ें हमें 'है' और 'नहीं है' रूप से दीखती हैं वैसा वह ज्ञेय ब्रह्म नहीं है। हमने आज तक जो चीज़ें समझी हैं 'है' और 'नहीं है' रूप में वे 'है' और 'नहीं है' दोनों ही रूप तो अध्यस्त हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उसका हैपना अवास्तविक है। जैसे यहाँ सद्-असत् नहीं यह कहा वैसे केनोपनिषत् में कहा कि वह ज्ञात और अज्ञात दोनों नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार हम चीज़ों को जानते हैं और नहीं जानते वह प्रकार उसका नहीं है, वह तो नित्य ज्ञान स्वरूप है, नित्य सत्स्वरूप है। यह जो ज्ञेय ब्रह्म की विशेषता है इसी के कारण जब तक हमें कोई इसे समझा न देवे तब तक हम इसे ढूँढते रहेंगे, कभी पता लगेगा नहीं। हमारी स्थिति

वैसे भूले-भटके की स्थिति है जिसका कुछ मानो खो गया है उसे ढूँढ रहा है। जो कल पूर्णता बतायी थी उसे अनादि काल से हम ढूँढ रहे हैं। क्या कारण है कि मनुष्य को कभी चैन नहीं मिलता ? क्योंकि उसकी पूर्णता खोयी हुई है। वह उसे ढूँढ रहा है। जिसका इतना बड़ा धन खोया हुआ हो उसे क्या कभी चैन हो सकता है ? इसीलिये यह हमेशा अशांत है। चाहे जितना हँस-खेल लेवे, कहीं न कहीं इसके हृदय में हमेशा उदासी बनी रहती है। एक छटपटाहट है जिसे भुलाने के लिये यह तरह-तरह के काम करता है, विभिन्न पदार्थ एकत्र करता है, पर यह छटपटाहट, यह अपूर्णता जाती नहीं है। जीवन भर खोजते हैं, मिलता नहीं इसीलिये मरते हैं, मर कर जहाँ जाते हैं वहाँ भी यह अशांति मिटती नहीं इसलिये फिर पैदा होते हैं। कई बार अपनी मूर्खता के कारण हम हार जाते हैं। हार कर कहते हैं 'अरे यह पूर्णता मिलनी नहीं, संसार की अपूर्णताओं में ही मन रमा लेवें।' जो पूर्णताप्राप्ति के परिश्रम से बचकर कहता है 'मैं तो जैसा हूं वैसा ही ठीक हूं' वह स्वयं अपने को ही झाँसे में रख रहा है, क्योंकि तृप्ति होती नहीं। अतः जो कहता है 'मैं संसार में रहूँगा' वह वस्तुतः अपने को धोखा दे रहा है क्योंकि भीतर की यह भूख मिटती नहीं। अर्जुन की भी छटपटाहट अमृतभाव प्राप्ति के लिये ही है। किन्तु भगवान् मानते हैं कि अर्जुन को ढूँढना आता है। किसी की कोई चीज़ खो गयी का मतलब है उसे याद नहीं कि वह कहाँ है। पुराने ज़माने में सड़कें कच्ची होती थीं। चोर भागते थे रास्ते पर उनके पैरों के निशान बन जाते थे। उनके सहारे चोर पकड़ लिया जाता था। ऐसे ही उस पूर्ण वस्तु के पदचिह्न हमें मिल जायें तो हमारा काम बने। पर जब हम घर से बाहर आते हैं तो बीसियों पदचिह्न पाते हैं क्योंकि हमारे घर से बीसियों लोग निकले हैं। इसलिये लगता है पता नहीं कौन से पदचिह्न से उसकी प्राप्ति होगी। क्या वैकुण्ठ का रास्ता पकड़ें या कैलास का, या गोलोक का ? कौन सा रास्ता पकड़ें ? कौन-से हैं उसके पदचिह्न ?

भगवान् कहते हैं कि सारे पदचिह्न उसी के है। ये एक ओर न जाकर सब ओर जा रहे हैं। सब दिशाओं में गया हुआ वही है। हम समझते

हैं किसी एक पदचिह्न से प्राप्त करेंगे पर एक से जिसे प्राप्त करोगे वह देश की परिच्छिन्नता वाला होने से अपूर्ण होगा, पूर्ण होगा नहीं। इसलिये ऋग्वेद ने कहा 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'। गीता में भी दसवें व ग्यारहवें अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं कि संसार की सब चीजें परब्रह्म के ही पदचिह्न हैं। इसलिये ढूँढने का तरीका समझना पड़ता है। बिना समझे समस्या है किधर जायें, पर समझने पर जिधर मर्ज़ी उधर से प्रवेश कर सकते हैं। ज़र्रे-ज़र्रे में वही तो है। चलचित्र का पर्दा क्या किसी एक चित्र में हीं है ? सारे चित्रों के पीछे वह एक ही तो पर्दा है। यह पूर्णता की विलक्षण दृष्टि है। ध्येय ब्रह्म में चलने वाला केवल एक पदचिह्न के पीछे चलता है।

संसार में आज सर्वत्र संघर्ष का मूल क्या है ? क्योंकि हर-एक कहता है कि इस पदचिह्न से चलो तो ही काम होगा। केवल सनातन धर्म ही यह कह सकता है कि सारे पदचिह्न उसी के हैं, उसके सिवाय और है कौन ?

दक्षिण भारत में कावेरीतट पर मदुरा के आस-पास पाण्ड्य देश है। वहाँ एक राजा था कुब्ज पाण्ड्य। यद्यपि पैदा तो वह सनातन धर्म की परंपरा में हुआ था तथापि संसर्गदोष से गलत तरफ चला गया। दीर्घकाल तक जैनियों से सम्पर्क होने के कारण धीरे-धीरे वह सर्वव्यापक परमात्मा के मार्ग से भटक गया। भारत की स्वतन्त्रता के समय एक विदेशी ने कहा था कि यदि स्वतंत्रता के तीन वर्षों में भारत से अंग्रेज़ी को हटा दिया तो हट जायेगी नहीं तो स्थिर हो जायेगी। पर हम लोगों ने पहले से ही निर्णय किया कि पन्द्रह वर्षों तक अंग्रेज़ी रहेगी। संसर्ग ने असर दिखाया। पन्द्रह सालों के बाद निश्चय हुआ अब फिर दस साल रहेगी। धीरे-धीरे स्थिति यह हो गयी है कि लोग कहते हैं इसके बिना चल ही नहीं सकता। यह है संसर्गदोष। भाषा के संसर्ग से विचारों का दोष भी आयेगा। यही पाण्ड्य के साथ हुआ। राजा के पथभ्रष्ट होने पर भगवान् ने विचार किया ऐसा होना अच्छा नहीं। उस समय एक विलक्षण महात्मा थे ज्ञान सम्बन्धर्। भगवदिच्छा से वे उस राजा से मिलने गये और कहा

'जो तू मान रहा है वह ठीक नहीं। यह तेरी मान्यता है। वास्तविकता को समझ।' उसने जैन विद्वानों को सामने कर दिया क्योंकि अपनी परंपरा रही है कि आपस में विचार कर तत्त्व का निर्णय किया जाये। मान्यता के धर्म हैं सेमेटिक धर्म, उनका सिद्धांत रहा है मार-काट कर दूसरे को अपनी बात मनायी जाये। कहीं तलवार-गोली से मारकाट होती है, कहीं पैसा देकर होती है। बैठकर तत्त्वविचार करने की प्रवृत्ति नहीं है। कई बार लोग कहते हैं 'इतने ईसाई बन रहे हैं, क्या किया जाये ?' समस्या ईसाई बनने की तो है नहीं। समस्या है लोग धन चाहते हैं, उन्हें धन मिलता है इसलिये ईसाई बनते हैं। यदि कोई ईसाइयों के किसी विचार को ठीक मानकर ईसाई बने तब हम उस विचार का तो खण्डन कर सकते हैं। पर यदि पैसे के लोभ से कोई गया है तो उसे दूसरा पैसे का लोभ ही आकृष्ट करेगा। इसके लिये विचार या प्रचार क्या करेगा ? भारतीय परंपरा शास्त्रार्थ की रही है।

जैनियों ने अपना पक्ष रखा

'संसारतापान्निखिलन्निहन्तुं शक्नोत्यहिंसैव हि शाक्यदृष्टा।
नार्च्यो महेशो न शिवा विभूतिरित्यार्हताः स्वामलिखन् प्रतिज्ञाम्।।'

संसार के ताप को हटाने में केवल अहिंसा सक्षम है। इस सृष्टि को बनाने वाले परमेश्वर हैं ही नहीं अतः महेश की अर्चना करना योग्य नहीं। न भस्मधारण इत्यादि करने की ज़रूरत है। यही हमारा सिद्धांत है कि अहिंसामात्र से ही काम हो जाता है। यह कर्मवादियों का सिद्धांत है। कुछ करके होता है यह मान्यता है। क्या करके होता है इसके विषय में अनेक भेद हो जायेंगे। ज्ञान सम्बन्धर ने कहा

'वेदाः प्रमाणं सह कामिकाद्यैः विश्वाधिकः शंकर एक एव।
भस्मैव धार्यं भुवि मोक्षमाणैरित्यालिखन् स्वां सुगुरुप्रतिज्ञाम्।।'

वेद प्रमाण हैं। इस सारे विश्व से अधिक शंकर हैं। चलचित्र में जितनी चीज़ें दीखती हैं उन सब से अधिक है पर्दा। हज़ारों चित्र उस पर आये-गये,

वह वैसा ही रहा। रात में जब कोई चित्र नहीं रहता तब भी पर्दा वैसा ही बना रहता है। ऐसे ही अनंत सृष्टियों में अनंत प्रकार के अभिनय होते रहे हैं, पर अधिष्ठान शंकर वैसा ही है। वही अत्यंत कल्याण करने वाला है। वह कोई जड पर्दा नहीं है, चेतन है। भगवान् शंकर से सम्बन्धित भस्म का धारण करना चाहिये। भगवान् का ऐश्वर्य धारण करना चाहिये। यदि संसार बंधन से छूटना चाहते हो तो वह कर्म से नहीं होगा, उन्हें अपने पर धारण करने से ही संसार से छूटना संभव है। अपने इस अहं को छोड़कर जब परब्रह्म परमात्मा को स्थान दोगे तभी मोक्ष होगा, कोई कर्म करने से नहीं।

बड़ा लम्बा शास्त्रार्थ चला। अंत में जैन लोग जवाब दे नहीं सके तो कहने लगे 'अरे जी यह तो बुद्धि का खेल है।' यह मनुष्य की आदत है। पहले तो बातें करेगा बड़े बड़े विज्ञान की और जब विकसित विज्ञान का प्रसंग उठायें तो कहता है 'जी इसका कुछ पता नहीं लगता।' ऐसे ही पहले कहते हैं धर्म बुद्धिगम्य होना चाहिये इसलिये शास्त्रार्थ के लिये तैयार होते हैं फिर जब उसमें हतप्रभ हो जाते हैं तो दूसरी बात करने लगते हैं। जैनियों ने भी कहा 'यदि तुम्हारे पास कोई शक्ति हो तो दिखाओ।' पाण्ड्य राजा को उदरशूल हो गया था, ज्वर भी रहता था, बड़े कष्ट में था। उसने कहा 'मेरे रोग पर सब दवायें व्यर्थ रही हैं। क्या इसे आप लोग ठीक कर सकते हैं ?' पहले जैनियों ने पूरा प्रयत्न किया, पर कुछ हुआ नहीं। मंत्र-तंत्र का उन्होंने प्रयोग किया। उनका आधार कर्म का था—यह करेंगे और रोग दूर करेंगे। ज्ञानसम्बन्धर् आनन्द से बैठे रहे। जब जैनियों से कुछ हो न पाया तब राजा ने सम्बन्धर् से कहा 'अब आप लोग प्रयास करिये। पण्डितों को बुलाकर मंत्र-तंत्र कराइये।' सम्बन्धर् हँस पड़े 'अरे! मंत्र-तंत्र से क्या होगा ? वह सब तो ये लोग कर चुके।' वे हँसते हुए अंदर गये स्पष्ट रूप से यह भान कराते हुए कि भगवान् का देदीप्यमान् स्वरूप ही मुझ में है। यह जो अपने मैं को छोड़कर उस परब्रह्म परमात्मा के मैं का आपादन करना है वह वे कर रहे थे। थोड़ा भस्म भगवान् शंकर के आधार पर उन्होंने राजा के माथे पर लगाया वैसे ही उसके सारे रोग

तुरंत निवृत्त हो गये। उसे लगा कि उसके तीनों ताप भी समाप्त हो गये। उसे यह समझ आ गया 'मैं परमेश्वर के मार्ग से हट गया था, पर अब पुनः परमेश्वर के मार्ग पर ही जाना है।' उसने सारी प्रजा के लिये नियम किया कि सब लोग वेदों का अध्ययन करें, वेद के अर्थ का निर्णय करें, भगवान् शंकर का ध्यान करें, उनकी विभूति को अपने जीवन में धारण करें।

इस प्रकार वह जो अधिष्ठान है उसे जो हृदय में धारण कर लेता है उसे फिर मान्यता की, ध्येय ब्रह्म की ज़रूरत नहीं रहती। ज्ञेय ब्रह्म का रास्ता जिधर देखो उधर खुला हुआ है। ब्रह्मज्ञान के बाद जहाँ देखता है वहाँ उसके सिवाय और कुछ नहीं। कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता, पूर्णानन्द के प्रवाह में बहनामात्र रह जाता है। इसीलिये भगवान् ने कहा कि जिसे सद् व असद् नहीं कहा जाता उस ज्ञेय को जानकर अमृतता मिलती है। ब्रह्म 'है' और 'नहीं है' द्वारा नहीं कहा जा सकता। इस ढंग से कहे जा सकने वाले तो अध्यस्त पदार्थ ही होते हैं। ऐसे ही न वह ज्ञात है न अज्ञात, वह दोनों से परे है। उसका कोई आदि नहीं है। कोई दिन नहीं है जिस दिन तुम परमात्मा को पाओगे। तुम हमेशा उसे पाये हुए हो। केवल भ्रम से समझ रहे हो 'नहीं पाया हुआ हूँ'। जैसे जिस समय सारे चलचित्र को देख रहे हो उस समय वहाँ पर पर्दे को तो देख ही रहे हो लेकिन उसे पर्दारूप से समझ नहीं रहे हो। इसी प्रकार इस सारे संसार का खेल जहाँ देख रहे हो वहाँ सर्वत्र वह ही वह है। नहीं जानने के कारण समझ रहे हो मुझे संसार दीख रहा है। जानोगे तब हँसकर कहोगे कि क्षण-क्षण में सिवाय परमात्मा के मुझे और कुछ दीख ही नहीं रहा। इसलिये कहा 'अनादिमत्परम्ब्रह्म'। परब्रह्म का आदि-अंत नहीं, वह एक स्वरूप से है। उसके सिवाय सब कुछ अध्यस्त रूप से ही परिस्फुरित होता है।

चार

चरम लक्ष्य का विचार करते हुए कल ज़रा कठिन विचार उपस्थित किये थे। कभी यदि आपने पर्वत की यात्रा की होगी तो देखा होगा कि जब पहाड़ पर चढ़ते हैं तब साँस फूलता है और यह स्पष्ट नहीं होता कि किधर को जा रहे हैं। सारा ध्यान उस पगदण्डी पर एकाग्र करना पड़ता है जिससे ऊपर जाना है। उस चढ़ाई का जो रस है वह तब पता चलता है जब हम शिखर पर पहुँचकर नीचे की उपत्यकाओं का अवलोकन करते हैं। उस सुंदरता को देखकर थकावट मिट जाती है। पर यदि चढ़ कर न जाया जाये तो वहाँ का नज़ारा देख नहीं सकते। ऐसे ही विचार करने में कष्ट होता है पर जिस नतीज़े पर पहुँचते हैं वह आनंदप्रद होता है।

भगवान् ने प्रतिज्ञा की ज्ञेय ब्रह्म की। कल बताया कि ब्रह्म के दो रूप हैं ध्येय और ज्ञेय। जिसका ध्यान किया जाये वह ध्येय, जिसे जाना जाये वह ज्ञेय। ध्यान में और जानने में क्या फर्क है ? दोनों काम एक ही अंतःकरण से होते हैं, मन ही जानता है, मन ही ध्यान करता है। यद्यपि दोनों काम मन से होते हैं, मन की ही वृत्ति ध्यानरूप व ज्ञानरूप है; तथापि दोनों में आधारभूत फर्क है। सामने घड़ा रखा है, आँख द्वारा मन घड़े को वैसा ही देखता है जैसा घड़ा रखा है, यह हुआ ज्ञान। यहाँ हमारा मन उस घड़े को जानता ज़रूर है पर अपनी तरफ से कुछ 'करना' नहीं पड़ता। यदि घड़े के ऊपर पंचपल्लव रख दिये, उन पर नारियल रख दिया, घड़े में जल भर दिया। तो हम कहते हैं 'वरुणमावाहयामि' इसमें हम परमेश्वर के वरुण रूप का आवाहन करते हैं, लाते हैं और उस रूप का ध्यान करते हैं। वरुण के विशिष्ट रूप सिंध देश के लोगों से मालूम चल सकते हैं क्योंकि वहाँ के वही मुख्य देवता हैं। वरुण का ही अवतार

वे झूल-ए-लाल को मानते हैं। जब हम वहाँ वरुण का ध्यान करते हैं तब हमें वरुण आँख से नहीं दीखता, परिश्रम कर हमें मन द्वारा वहाँ वरुण की वृत्ति बनानी पड़ती है, खुद नहीं बनती। वहाँ हमें वरुण दीख तो रहा नहीं है, ज्ञान तो हो नहीं रहा। जब तक हम प्रयत्न करेंगे तब तक हमारा वरुण का ध्यान चलेगा, जैसे ही हमारा प्रयत्न ढीला हुआ, शिथिल हुआ, वैसे ही फिर हमें घड़ा, पत्ते व नारियल ये ही नज़र आने लगेंगे। घट ज्ञेय है, वरुण ध्येय है। जहाँ जो चीज़ जैसी है उसे वैसा देखने का काम किया जाता है वह ज्ञान है। जहाँ जो चीज़ जैसी नहीं है उसे देखने का प्रयत्न किया जाता है वह ध्यान है। ध्यान शास्त्र-संमत भी होता है, उससे विरुद्ध भी। शास्त्र ने कह दिया जलकुंभ में वरुण का ध्यान करो, शालग्राम में विष्णु का ध्यान करो, नर्मदेश्वर में शिव का ध्यान करो; यों शास्त्र द्वारा कहे तरीके से ध्यान तुम कर सकते हो। इसलिये आचार्यों ने कहा है 'वस्त्वधीना भवेद्विद्या कर्त्रधीनो भवेद्विधिः' ज्ञान वस्तु के अधीन है। सामने जैसा घड़ा रखा हुआ है वैसा ही घड़ा दीखना यह घड़े पर आधारित है। काला घड़ा है तो काला दीखेगा, लाल है तो लाल दीखेगा। घड़ा जैसा है वैसा उसे समझने का, जानने का देखने का प्रयत्न है। इस प्रयत्न में सावधानी केवल यह करनी पड़ती है कि जो हमारे ज्ञान का साधन है वह साफ हो। देखना है तो आँख में कोई दोष न हो। प्रयत्न भी इतने के लिये ही चाहिये। दीखेगी जो चीज़ है वह। परन्तु जहाँ हमें ध्यान करना पड़ेगा वहाँ कर्ता की स्वतंत्रता है, हम करेंगे तब है, नहीं करेंगे तो नहीं है। जब तक हमारा चित्त एकाग्र हो सकेगा तब तक वहाँ वरुण, विष्णु, शंकर हैं; नहीं तो फिर घड़ा, व पत्थर हैं।

सनातन धर्म से अतिरिक्त जितने भी मत-मतान्तर हैं वे ध्येय का निरूपण तो करते हैं, ज्ञेय का नहीं। वे कहाँ से चलते हैं ? किसी न किसी परमेश्वर का वर्णन करते हैं, चाहे उसका नाम खुदा रखें, गोड रखें, यहोवा रखें, कुछ भी रखें। जिसका वर्णन करते हैं उसका हमें कोई अपरोक्ष ज्ञान नहीं है, उसके प्रत्यक्ष का कोई उपाय नहीं है। जैसा वहाँ कहा है वैसा मानकर ध्यान करना है। यदि हमें शालग्राम में विष्णु का ध्यान करना

है तो जैसा शास्त्र ने कहा है वैसा ही करना होगा। 'सपीतवस्त्राम्' कहा है तो पीले वस्त्र वाले का ही ध्यान करना होगा। अपनी बुद्धि लगाओगे तो गड़बड़ा जाओगे। देखोगे तो वहाँ शालग्राम ही दिखेगा। सभी मत-मतांतर ईश्वर का किसी न किसी रूप में निरूपण करते हैं, रूप चाहे निराकार हो, चाहे साकार। 'ईश्वर ऐसा है' यह निरूपण कर कहते हैं उसका ध्यान करो। अतः उनका क्षेत्र ध्येय ही है, ज्ञेय ब्रह्म नहीं। ज्ञेय ब्रह्म वह है जो पहले ही सामने दीखने लगे। पड़ी हुई शालग्राम की बटिया को देखते हो तो जो दीख रहा है वह ज्ञान है। पहले बटिया साफ नहीं दीखेगी, रोशनी बढ़ाओगे तो साफ दीखेगी। या हीरा समझ लो; पहले-पहल जब हीरे को देखोगे तब पहचान नहीं आयेगी। उसे कई कोणों से देखने पर, अन्य हीरों से उसकी तुलना करने पर ही उस हीरे की असलियत का पता चलेगा। पर हर हालत में हीरा जैसा है वैसा ही देखोगे। कल बताया था कि जिस पर्दे पर सारा चलचित्र दिखायी देता है वह पर्दा वास्तविक चीज़ है।

वह पर्दा है क्या चीज़ ? किस पर्दे पर हमें यह सारा संसार दीख रहा है ? मैं वह पर्दा है जिस पर सब कुछ हमें दीखता है। प्रत्येक व्यक्ति को जो कुछ दीखता है वह मैं के पर्दे पर दीखता है, बिना मैं के कुछ भी दीखता नहीं। और मैं को तुम सब जान रहे हो। रात-दिन मैं-शब्द का प्रयोग करते हो, अंदर से उसे समझते भी हो 'मैं हूँ'। इसलिये मैं का जो ज्ञान है उसके लिये ध्यान करने की ज़रूरत नहीं है। जो मैं तुम समझ रहे हो उसी के बारे में, उसी को ध्यान देकर, उलट-पलट कर देखना है। इसलिये ज्ञेय ब्रह्मवाद ईश्वर से प्रारंभ न कर मैं से प्रारंभ करता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसीलिये उपदेश दिया 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'। अपने आत्मस्वरूप को देखो, अपने आप को देखो, समझो। प्रश्न होता है कि मैं अपने आप को तो जान ही रहा हूँ तो मुक्त क्यों नहीं ? हीरे की अंगूठियाँ तो हज़ारों औरतें पहनती हैं पर क्या एक प्रतिशत भी हीरे को ठीक से समझ सकती है ? जब तक ठीक प्रकार के हीरों का ज्ञान नहीं कर लेगा तब तक देख तो उसी आँख से रहा है जिस से जानकार जौहरी देखता है पर जौहरी ने हीरे के विषय में प्रयत्नपूर्वक समझ लिया है जिससे उसके

अंतःकरण में ऐसे संस्कार हैं कि जब वह हीरा देखता है तब उसकी कीमत सही आँक लेता है, और वैसे संस्कारों से रहित अंतःकरण वाला यह परीक्षा कर नहीं पाता। फर्क आँख में नहीं, संस्कार में है। ऐसे ही मैं को निरंतर हृदय में धारण किये हुए हो और तुम्हें लगता भी है कि मैं अपने आप को जानता हूं पर तुमने कभी भी ठीक प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक करके यह मैं क्या है इसे जानने का प्रयत्न नहीं किया। शास्त्र इसी बात के संस्कारों को डालता है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी, सैवाहम्'

अन्वय-व्यतिरेक करने वाला देखता है एक मैं है देवदत्त इस शरीर वाला ब्राह्मण, हिन्दुस्तानी, दिल्ली में रहने वाला। रात में सो गया। सपने में देखता है हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में जाकर पवित्र शीतल गंगा में गोता लगा रहा हूँ, बड़ा आनंद आ रहा है, शरीर-मन ते ताप शांत हो रहे हैं। तब तक कोई आवाज़ दे देता है 'अरे देवदत्त ! चार बज गये, उठो। सात बजे से परीक्षा में पर्चा लिखना है।' देवदत्त उठ जाता है। देखता है मेरे कपड़े तो गीले थे, गोता लगा रहा था। पर अब कपड़े बिल्कुल सूखे पड़े हुए हैं। शरीर हल्का गीला ज़रूर है पर पसीने के कारण, बदबू आ रही है ! विचार करने वाला सोचता है कि एक मैं देवदत्त जो यहाँ दिल्ली में बिस्तर पर पड़ा गर्मी सहन कर रहा था, दूसरा वह हरद्वार की पावन गंगा में गोते लगा रहा था। ये मेरे दो रूप हैं कैसे ? हूँ मैं ही, इसमें सन्देह नहीं। जैसे यहाँ मुझे मैं के पर्दे पर दीख रहा है देवदत्त दिल्ली में गर्मी में पड़ा हुआ वैसे ही मुझे मैं के पर्दे पर दीख रहा था हरद्वार की पावन गंगा में गोता लगा रहा ! दोनों मैं के पर्दे पर एक जैसे दीख रहे थे। हरद्वार से भागकर आया हूँ यह संभव नहीं, इतना समय ही नहीं बीता। इतना ही नहीं, गोता लगाते समय दिन में बारह बजे का सूर्य तप रहा था, यहाँ जब मैं पड़ा हुआ हूँ तो ठीक उस से विपरीत प्रातःकाल के चार बज रहे हैं, अँधेरे का समय है। इसलिये समय की व्यवस्था भी बनती नहीं। कुछ न कुछ फर्क

निश्चित है। यह स्थूल शरीर तो वहाँ स्नान नहीं ही कर रहा था; मैं तो वही था पर यह शरीर नहीं था। वहाँ मेरा मन था। विचार होता है—मन वाला मैं हो। यहाँ भी मन वाला हूँ, वहाँ भी मन वाला। मन तो दोनों जगह था, दोनों जगह अनुभव हो रहा है। फिर याद आता है सपना देखने के पहले क्या कर रहा था ? जिस दिन रात भर सपने आते रहें उस दिन सबेरे उठते हैं तो शरीर टूट रहा होता है, सिर भारी होता है, सब पर झुँझलाहट आने लगती है, कोई काम करने का उत्साह नहीं रहता। जिस रात सपने न आये हों, अत्यंत कम आये हों, अनुभव होता है 'मैं ऐसा सोया था कि मैंने कुछ भी नहीं जाना।' यदि वहाँ मन होता तो कुछ तो जानता। यह जाना कि उस सुषुप्ति में जाकर आये, जब सुषुप्ति में गये थे तो बिल्कुल थके हुए गये थे, जब वापस आये तो बिल्कुल ताज़े होकर आये। ऐसा लगता है जैसे आजकल एक तरह की रोशनी आती है जिसे आपात प्रकाश (इमर्जेन्सी लाइट) कहते हैं। उसे घंटे दो घंटे जला लो, उसके बाद बिजली के खटके में उसे लगा दो, चार-छह घण्टों बाद फिर वैसी ही जलने लगती है। उसमें शक्ति का पुनराधान हो गया, 'रीचार्ज' हो गयी। किससे रीचार्ज हुई ? बिजली से। बिना बिजली के वह रीचार्ज होगी नहीं। इसी प्रकार सुषुप्ति से हम ताज़े होकर उठते हैं। अतिधन्य वेद कहता है 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'। सद् ब्रह्म के साथ उस समय हमारा सम्बन्ध हो जाता है इसलिये हमारी सारी थकावट मिट कर हम पुनः शक्ति पाकर—रीचार्ज होकर—खड़े हो गये। वहाँ मन नहीं था। मन ही वह चीज़ है जो हमें परमेश्वर से सम्बन्ध करने नहीं देता। मन के कारण ही तो हम उससे अलग हुए हैं। गहरी नींद में हमें इस शक्ति की प्राप्ति हुई, इससे पता लगता है कि उस समय वहाँ मन था नहीं। इसलिये परमात्मा से हमारा ऐसा सम्बन्ध हो गया कि हममें वह सारी शक्ति आ गयी। केवल शक्ति आने से ही परमात्मा का पता लग रहा हो यह बात नहीं। उठ कर एक और स्मृति होती है 'मैं बड़े आनन्द से सोया'। वह आनन्द कौन सा था ? किसी विषय का आनन्द तो था नहीं। न वहाँ रसगुल्ला खा रहे थे, न खीन-खाब का कपड़ा पहन रहे थे, न कोई नाच

देख रहे थे। किस चीज़ का आनन्द आया ? खुद ही कहते हो 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना'। निर्विषय आनन्द को ही तो ब्रह्म कहते हैं, परमात्मा कहते हैं। जब कहते हो 'मैं बिना किसी विषय के आनन्द के साथ सोया' तब बिना किसी विषय के आनंद अर्थात् परमात्मा। यह जो आनन्दानुभव है वह बता रहा है कि तुम उस समय परमात्मा से एक थे। उठने पर आयी शक्ति की भी अन्यथा-अनुपपत्ति से सिद्ध होता है कि तुम तब परमात्मा से एक थे। वहाँ तुम थे और बिना मन के थे। जब तक विचार नहीं किया था तब तक सोचते थे मैं देवदत्त हूँ, ब्राह्मण हूँ आदि। विचार में प्रवृत्त होने पर देखा कि अरे मैं यह नहीं मन हूँ। आगे और विचार किया तो पता लगा कि मैं तो मन भी नहीं हूँ। इस प्रकार मैं का विश्लेषण करते-करते उस मैं में अंततोगत्वा जो शुद्ध परमात्मा का स्वरूप है वह दीखता है।

जैसे हीरे का पारखी बनने के लिये तुम्हें पहले हीरे के विषय का शास्त्र पढ़ना पड़ता है। उससे तुम्हे हीरे के लक्षणों का पता लगता है। पर केवल लक्षण जानने से काम नहीं चलता। केवल किताब पढ़कर कोई रत्नों का पारखी नहीं हो सकता। पारखी के पास जाकर परखने का तरीका सीखना पड़ता है और अनेक रत्नों को उलट-पुलट कर देखना पड़ता है। इसी प्रकार यह जो तुम्हारा आत्मा है, मैं है, इसके स्वरूप को बतलाने वाली उपनिषदों को व उपनिषद्मूलक शास्त्रों को पढ़कर अपने मन में संस्कार प्रबल करने पड़ते हैं, लक्षण व स्वरूप को समझना पड़ता है। किन्तु केवल पढ़ लेने से परख नहीं आ जाती। जिसने इस आत्मतत्त्व को भली प्रकार जाना है ऐसे ब्रह्मनिष्ठ से परखना सीखना पड़ता है। केवल ग्रंथ से पता लगना पर्याप्त नहीं। जैसे पुस्तक पढ़ने से भोजन बनाना नहीं आ जाता। पुस्तक से यह कैसे पता लगेगा कि फुलका ठीक सिक गया कि नहीं। यह तो लिख देंगे कि तवे पर डालो, पर उससे उतार कर खीरों पर कब डालो यह कैसे लिखेंगे ? यह तो कोई बतायेगा तभी पता लगेगा। ऐसे ही लक्षणों को श्रवण द्वारा समझने पर भी जब तक परख करना आयेगा नहीं, कोई प्रयोजन सिद्ध होगा नहीं। एक बार हम एक सज्जन के घर गये हुए थे। बड़े संस्कारी व्यक्ति थे, उन्होंने अपने बच्चों को वेदांत की

बातें सिखा दी थी। छह-सात साल का एक बच्चा था। कहने लगे 'महाराज ! मैंने इसे दृढ वेदांतज्ञान करा दिया।' हमने कहा 'बहुत अच्छा किया।' माता पिता की इच्छा होती है कि बच्चे का ज्ञान प्रकट भी होवे। पिता ने बच्चे से कहा 'सुना।' बच्चा बोलने लगा 'दृश्य द्रष्टा से भिन्न होता है। मैं हाथ को देखता हूँ तो हाथ से अलग हूँ, शरीर को देखता हूँ तो शरीर से अलग हूँ। ऐसे ही मन, बुद्धि आदि से अलग हूँ।' पिता बड़े प्रसन्न हो रहे थे। पूछा 'क्यों इसने ठीक कहा ?' हमने कहा 'बिल्कुल ठीक कहा।' फिर हमने बच्चे से कहा 'अच्छा बेटा ! तू अपने हाथ को देखने वाला है इसलिये तू द्रष्टा हाथ से अलग है। ऐसे ही तेरे पिता अपने हाथ को देखते हैं तो अपने हाथ से अलग हैं। वे भी अपने शरीर इन्द्रिय मन से अलग हैं।' कहने लगा 'हाँ'। हमने कहा 'एक वे आत्मा एक तू आत्मा।' बोला 'हाँ।' पिता धीरे से बच्चे को इशारा करे, पर वह कैसे समझे ? पुस्तक से रटने से काम नहीं होता। उलट-पुलट कर समझना पड़ता है। इसीलिये शास्त्रों में, पुराणों में इतना विस्तार किया गया है।

ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करते हुए महाभारत में एक विचित्र कथा आती है। लघुचन्द्रिका में गौडब्रह्मानन्द सरस्वती लिखते हैं

'द्रौपदीशाकमास्वाद्य त्रिलोकी येन तर्पिता।
तज्जीवब्रह्मणोरैक्ये साक्षि ब्रह्मैव नो हरिः।।'

जीव और ईश्वर की एकता में प्रमाण क्या ? जिस समय युधिष्ठिर जंगल में भेज दिये गये उस समय भी सहज स्वभाव से वे अतिथिसेवा में तत्पर रहते थे। सोचने लगे जंगल में इंतजाम कैसे हो ? द्रौपदी ने कहा 'आप न घबरावें। मुझ पर देवताओं की कृपा है जिसमे मैं व्यवस्था कर लूँगी।' उसने एक बटलोई प्राप्त की जिसकी विशेषता थी कि जब तक द्रौपदी न खा ले तब तक उससे जिस भी भोजन की वह इच्छा करे वह भोजन उतने ही परिमाण में निकलता जाये। वहाँ यह क्रम चलने लगा कि ऋषि मुनि आदि अनेक लोग युधिष्ठिर के पास आते थे और युधिष्ठिर सबको भोजन कराते थे। जब सबका भोजन पूरा हो जाता था तब द्रौपदी भोजन

कर लेती थी। फिर उस बर्तन से और भोजन नहीं निकलता था। इस बात का दुर्योधन को पता था। दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति स्वभाघ से ही भले आदमियों को कष्ट देना चाहता है। दुर्योधन ने विचार किया 'मैंने सोचा था कि इन लोगों को खाने-पीने का कष्ट होगा पर ये तो सबको खिलाते-पिलाते आनंद से रहते हैं। इस काम में कोई न कोई विघ्न करना चाहिये।'

एक बार उधर से महर्षि दुर्वासा निकले। दुर्वासा स्वयं को ही 'क्रोधभट्टारक' लिखते हैं ! अपने को क्रोध करने में बड़ा कुशल बताते हैं। उनकी बहुत सेवा की दुर्योधन ने। प्रसन्न होकर उन्होंने उससे कहा 'कुछ चाहिये तो माँग लो।' दुर्योधन बोला 'आप हमारे भाई युधिष्ठिर के वहाँ जाकर भिक्षा कीजिये यही मैं चाहता हूँ लेकिन जाइयेगा दिन में तीन बजे के बाद।' उसे पता था कि एक डेढ़ बजे तक भोजन समाप्त हो जाता था। क्योंकि भारतीयों के भोजन का समय है दस साढ़े दस बजे। अधिक से अधिक बारह बजे तक भोजन पूरा होना स्वाभाविक है। फिर द्रौपदी के भोजन का समय जोड़ लिया। और भी समय हाथ में रखकर उसने तीन बजे कहा था। दुर्वासा साठ हज़ार महात्मा-ब्रह्मचारियों की मण्डली रखते थे। आजकल तो बहुत से लोग हम लोगों की बीस-पच्चीस महात्माओं की मंडली से ही घबरा जाते हैं, कहते हैं 'महाराज आप भोजन करने आइयेगा, सब को मत लाइयेगा।' साठ हज़ार को देख लेने से ही दिल्ली वालों की तो छाती ही बैठ जाये !

दुर्वासा जंगल में पहुँच गये। युधिष्ठिर ने उन्हें देखते ही आदतन स्वागत कर हाथ जोड़ कर कहा 'महाराज ! भिक्षा कीजिये।' दुर्वासा ने कहा 'इसीलिये तो आया हूँ।' भीम सावधान था, बोला 'आप लोग गंगातट पर स्नान-ध्यान कीजिये तब तक भोजन तैयार होता है।' दुर्वासा चले गये। भीम ने युधिष्ठिर से कहा 'भइया ! कुछ समय का भी ख्याल रखा करो। अब इस समय भोजन कैसे आयेगा ?' युधिष्ठिर बोले 'अब तो मैं कह चुका। बुलाओ द्रौपदी को।' द्रौपदी ने भी कहा 'अब तो बर्तन भी माँज दिया, अब क्या इन्तज़ाम होगा ?' युधिष्ठिर ने कहा 'कुछ तो करो।' द्रौपदी

ने कहा 'मेरा तो जो कुछ सामर्थ्य था वह इस बटलोई में था। अब तो भगवान् का स्मरण ही करना चाहिये, वे ही इसकी व्यवस्था करेंगे।' द्रौपदी भी भगवती के अंश का अवतार थी इसलिये उसके स्मरण करते ही वे उपस्थित हो जाते थे। अब भी वे आ गये। आते ही बोले 'अरे द्रौपदी तूने क्यों बुलाया यह तो पता नहीं, वह काम तो बाद में करेंगे। आज सुबह से कुछ खाया नहीं है, मुझे कुछ खाने को दे।' द्रौपदी ने कहा 'भगवन् ! इसीलिये तो याद किया है !' भगवान् बोले 'अरे बात बाद में सुनेंगे। तेरी बटलोई की बड़ी प्रशंसा सुनी है, निकाल उसमें से कुछ खाने का माल।' वह कहने लगी 'मैं तो खा चुकी अब उसमें क्या निकलेगा ?' भगवान् ने कहा 'उसमें कुछ तो बचा होगा, ला तो सही।' द्रौपदी लाई और बोली 'देख लीजिये, मँजा हुआ है, कुछ नहीं है इसमें। बटलोई में सेंध होती है, ऊपर व नीचे के हिस्सों का जोड़ होता है। भगवान् हाथ डाल कर बटलोई में देखने लगे कुछ है कि नहीं, तो सेंध में फँसा एक छोटा धनिये का पत्ता उन्हें मिल गया और कहने लगे 'झूठ बोलती है कि कुछ नहीं है, देख यह मिल गया।' कोई कुछ कहे कि जूठा है आदि, इसके पहले झट से उन्होंने उसे खा लिया और संकल्प किया 'इससे सारे प्राणी तृप्त हो जायें।'

उधर दुर्वासा स्नानादि से निवृत्त होकर ध्यान कर रहे थे। उनके शिष्यादि भी सन्ध्या, पूजा, योगाभ्यास आदि कर रहे थे। सभी को एक साथ अनुभव हुआ कि पेट ठस भर गया है। दुर्वासा को भी यही अनुभव हुआ, उन्हें आश्चर्य हुआ। इधर-उधर देखा तो सभी पेट पर हाथ फेर रहे थे और भोजन पचाने का मन्त्र बोल रहे थे

'अगस्त्यं कुम्भकर्णं च शनिं च वडवानलम्।
आहारपरिपाकार्थं स्मरेद् भीमं च पञ्चमम्।।'

दुर्वासा ने पूछा 'अरे भोजन से पहले ही पचाने का मंत्र कैसे बोल रहे हो ?' सब ने कहा 'महाराज भोजन हमसे तो अब होगा नहीं, आप ही जाइयेगा।' दुर्वासा समझ गये कि इसमें ज़रूर भगवान् की कोई लीला है इसलिये भलाई इसी में है कि यहाँ से खिसक जायें ! उन्होंने मण्डली से कहा 'अगर सबका पेट भर गया है तो आगे चलो।'

इधर भगवान् ने भीम से कहा 'अरे जाकर दुर्वासा को बुलाकर ला, बहुत समय हो गया।' भीम जब गंगातट पर पहुँचा तो देखता है कि सब अपने दण्ड-कमण्डलु उठाकर दूसरी तरफ जा रहे हैं। बोला 'अरे भगवन्! उधर नहीं, भोजन करने चलिये।' दुर्वासा ने पूछा 'वहाँ श्री कृष्ण को तो नहीं बुला रखा है ?' भीम ने कहा 'जी वे तो पधारे हैं, उन्ही ने भेजा है।' दुर्वासा बोले 'तो उन्हें कह देना कि पेट भरकर भिक्षा करने को बुलाते हैं ? अब तो हम जाते हैं।'

भगवान् ने केवल संकल्प से यह काम न कर द्रौपदी के बर्तन का साग क्यों खाया ? युधिष्ठिर ने भिक्षा का निमन्त्रण दिया था इसलिये युधिष्ठिर के अन्न के निमित्त से ही पेट भरे यह उचित था, अन्यथा युधिष्ठिर की सत्यवादिता अक्षुण्ण न रहती। इसलिये भगवान् ने ऐसा किया।

विचार करो कि क्या एक के खाने से दूसरे की तृप्ति हो सकती है ? भोजन तुम करो तो क्या पत्नी का—चाहे वह कितनी भी प्रिय क्यों न हो—पेट भर जायेगा ? जो खायेगा उसी का न पेट भरेगा। भगवान् के खाने से सबका पेट भरना तभी संभव है जब जीव-ईश्वर में भेद न होवे ! जब दूसरा न हो तभी एक के खाने से पेट भरेगा। यदि भेद होगा तो यह कभी संभव नहीं। इसी से गौड ब्रह्मानन्द स्वामी ने इस लीला से अद्वैत का ही प्रदर्शन प्रतिपादित किया है। अतः ब्रह्मरूप श्रीहरि ही हमारे सिद्धांत में साक्षी हैं, प्रमाण हैं।

इस प्रकार तरह-तरह से समझाया गया कि किस प्रकार वास्तविकता अद्वैत है। यदि हम ईश्वर से प्रारंभ करते हैं तब तो हमें ईश्वर के रूप को मानना पड़ता है। परंतु मैं हमारे लिये प्रत्यक्षसिद्ध है, अपरोक्ष है, इसलिये उसे जब हम ध्यान से देखते हैं, उसे ज्ञेय बनाते हैं, तब हमें किसी चीज़ को सोचना नहीं पड़ता, केवल अवापोद्धार, अन्वय-व्यतिरेक, गुरु से समझकर अभ्यास करते हैं तो मैं का यथावत् स्पष्ट भान हो जाता है। अभी हमें मैं के साथ कुछ मिलकर मैं का ज्ञान होता है। जैसे सोने की डली में खोट मिली हो और चाहिये हो सोना, तो हमें सोना बाज़ार

से लाने की ज़रूरत नहीं, केवल खोट को अलग कर देना है। ऐसे ही मैं है ब्रह्मस्वरूप पर इसमें शरीर, प्राण, मन, इंद्रियाँ, अज्ञान, सब की खोट मिली हुई है जिससे हमें लगता है यह ब्रह्म नहीं है। ज्ञेय ब्रह्म में हमें कहीं से कुछ लाना नहीं, कुछ जोड़ना नहीं, केवल इन खोटों को अलग कर निकाल देना है। मैं जैसा है वैसा ही उसका ज्ञान हो जाता है। यह विलक्षण प्रक्रिया सनातन धर्म से अन्यत्र कहीं नहीं है। बाकी लोग अज्ञात ब्रह्म से ही चलते हैं। हम ब्रह्म के ज्ञेय स्वरूप को लेकर चलते हैं।

ज्ञेय वह होता है जो तुम्हारे सामने है लेकिन तुम समझ नहीं रहे। तुम्हारे सामने मैं रूप से परब्रह्म परमात्मा है पर तुम समझ नहीं रहे हो। तुम जैसे ही समझोगे वैसे ही तुम्हें उसका साक्षात्कार हो जायेगा। इस मैं के पर्दे का ही विश्लेषण करने के लिये भगवान् ने कहा 'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्त्वामृतमश्नुते।' इसकी परीक्षा से ही तुम्हें अमृत की प्राप्ति हो जायेगी, सारी अल्पतारूप मृत्यु दूर होकर पूर्णता की प्राप्ति हो जायेगी।

पाँच

भगवान् ने ज्ञेय तत्त्व बताते हुए स्पष्ट किया कि वह तत्त्व संसार के पदार्थों को जैसा हम 'है' कहते हैं वैसा व्यक्त है नहीं और जैसे किसी चीज़ को यदि इंद्रियों से नहीं देख पाते तो कह देते हैं 'नहीं है' वैसे परमात्मतत्त्व के बारे में कहना ठीक नहीं होता। विचार करते हुए पाया कि अहम् ऐसी चीज़ है जिसे न हम कभी देखते हैं और न ही उसका अभाव कभी देखते हैं। मैं के बारे में नहीं जानते यह नहीं कह सकते। हम यह नहीं कह सकते कि मैं नहीं है पर जैसे किसी बाह्य पदार्थ को देखते हैं ऐसे मैं का स्पष्ट ज्ञान है भी नहीं। मैं के विचार से पता लगता है कि विभिन्न उपाधियों द्वारा जाग्रदादि आते-जाते हैं। उन सबमें जो एक जैसा बना रहता है वह मैं है। पर प्रश्न होता है कि इतना तो हमने जान लिया; क्या यही वह ज्ञेय तत्त्व है ? इसलिये भगवान् स्पष्ट करते हैं कि उसका कहाँ कैसे पता लगाना है:

'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।'

जिस मैं पर तुम्हे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति दीखते हैं उसी मैं पर संसार के सारे हाथ-पैर वाले भी अधिष्ठित हैं। यह वेदांत की विशेष देन है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो त्वम्पदार्थ के शुद्ध रूप तक तो सांख्यशास्त्र भी ले जा सकता है; जाग्रदादि के बदलने पर भी नहीं बदलने वाला प्रकाशरूप आत्मा है इतना तो कपिल मुनि भी बतला देते हैं। परंतु यह मैं केवल एक उपाधि के जाग्रदादि वाला नहीं, सर्वत्र विद्यमान है, यह बात केवल उपनिषत् से मालूम पड़ती है। कल भी आचार्य शंकर के मनीषापंचक के वचन से बताया था कि जो जाग्रदादि का अनुभव करने वाली परा संवित् है वह ब्रह्मा से

चींटी तक सब में एक जैसी विद्यमान है। केवल इतना जानना बहुत नहीं कि मैं जाग्रदादि में रहता हूँ। जानना तो यह पड़ेगा कि ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यंत सबमें मैं हूँ।

कई बार हम कहा करते हैं कि वैयाकरण प्रायः झूठ नहीं बोलते; शब्द् ब्रह्म के उपासक होने से गलत बात बोलें यह वैसे भी ठीक नहीं। लेकिन एक स्थल पर सारे वैयाकरण गलती करते ही हैं। केवल हमारे पाणिनि ही नहीं, सारी भाषाओं के वैयाकरण यह गलती अवश्य करते हैं। हम सब को पढ़ाया जाता है कि 'मैं' यह एकवचन है और इसका बहुवचन है 'हम'। सभी भाषाओं में यही व्यवस्था है। पर विचार करो; जब कहते हो 'वह' का बहुवचन 'वे' है तब मतलब है 'वह (देवदत्त) + वह (यज्ञदत्त) + वह (भानुदत्त) = वे। कई वह मिलाने से वे होते हैं। ऐसे ही 'तुम' और 'तुम लोग' में व्यवस्था है: तुम + तुम + तुम = तुम लोग। एक जाति के कई मिलाये जाते हैं, वह, वह, वह, सभी वह हैं; 'तुम लोगों' में सभी तुम हैं। परंतु जब कहते हो 'मैं' का बहुवचन 'हम' है तब यह मतलब नहीं होता कि मैं देवदत्त + मैं यज्ञदत्त + मैं भानुदत्त = हम; अपितु मतलब होता है। मैं देवदत्त + तुम यज्ञदत्त + वह भानुदत्त = हम। विभिन्न वस्तुओं को मिलाने से एक का बहुवचन क्योंकर सिद्ध होगा ? मैं तो एक ही रहा, अन्य चीजें उससे मिलीं तब 'हम' बने। मैं का बहुवचन संभव ही नहीं। मैं यह बहुत विलक्षण है। सब में रहने वाला अहम् एक ही है, यदि हम पहचानें। हम जब किसी को देखते हैं तो हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुँह, कान—ये सब दीखते हैं। इससे भ्रम होता है कि इन्हे चलाने वाले कोई अलग-अलग होंगे। भगवान् ने कहा 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' सब में रहने वाला जो तत्त्व है वह ज्ञेय तत्त्व है। यह भ्रम क्यों होता है ? भ्रम में एक चीज़ दूसरी चीज़ जैसी दीखती है। जो जहाँ न हो वह वहाँ दीखे यही अध्यास है, भ्रम है। जहाँ साँप का नामोनिशान नहीं वहाँ साँप दीखे यही भ्रम है। है वहाँ रस्सी, दीख रहा है साँप। ऐसे ही हमें शरीर दीखता है, वह पंचभूतों से बना है, जड है। शरीर में हम क्रिया देखते हैं, समझते हैं शरीर चेतन है। जिस प्रकार मैं जाग्रदादि तीनों का अनुभव करता हूँ,

तीनों में रहता हूँ, पर तीनों से अलग हूँ; इसी प्रकार प्रत्येक शरीर में रहने वाला चेतन उस शरीर से और उसके जाग्रदादि अनुभवों से भिन्न है। स्वयं को तो शरीर से भिन्न भी कुछ समझ पाते हैं, पर दूसरों के तो शरीर ही दीखते हैं अतः उनके बारे में सभी निर्णय शरीर देखकर ही करते हैं। इस प्रकार जड शरीर को हम चेतन समझ लेते हैं, यह भ्रम हो जाता है।

इससे मिला हुआ दूसरा भ्रम है कि चेतन अमुक जड है। जब चेतन को शरीर समझा तब उसे जड ही तो समझा। अपने से कोई भी ग़लती हो तो हमेशा लगता है कि मुझसे भिन्न अमुक कारण है जिससे ग़लती हो गयी। पर यदि दूसरे से ग़लती हुई तब लगता है 'इसने ग़लती की'। एक बार किसी गद्दी में रोशनी कम थी। मुनीम जी आये। सेठ जी ने दवात रख छोड़ी थी, मुनीम जी का पैर पड़ गया; स्याही गिर गयी। सेठ जी ने जोर से डाँटा 'मुनीम जी ! ज़रा देख कर चला करो।' महीना-दो महीने बीत गये। एक दिन मुनीम जी हिसाब लिख रहे थे, रोशनी कम थी और सेठ जी आये। उनका पैर आज दवात पर पड़ गया, स्याही फैल गयी। सेठ जी तुरंत गुस्से में बोले 'अरे दवात रास्ते में रख देतो हो, कुछ तो सोचा करो।' दूसरा ग़लती करता है तब हमारा निश्चय होता है कि इस चेतन की ग़लती है। करता वहाँ भी शरीर-मन ही ग़लती है, पर हमें वैसा भ्रम होता है। हमसे ग़लती हो तो हमारे हाथ-पैर की, बुद्धि की, शिक्षा की होती है, हम तो ठीक ही होते हैं। अपने में तो हमें शरीरादि से भेद कुछ प्रतीत हो जाता है, पर दूसरे में वह भेद समझ आता नहीं क्योंकि उस शरीरादि से तादात्म्य करता हुआ प्रत्यगात्मा कभी हमें अपरोक्ष होता नहीं। इस प्रकार जड़ शरीर में चेतनका और चेतन में जड शरीर की क्रिया इत्यादि धर्मों का, यों एक दूसरे में अध्यास हो जाते हैं। यहीं से बंधनों की सारी प्रक्रिया शुरु हो जाती है।

यद्यपि इस तरह दोनों एक दूसरे में अध्यस्त होते हैं तथापि चेतन सत्य ही बना रहता है, शरीरादि व उनके धर्म मिथ्या ही बने रहते हैं। जो चीज़ चेतन नहीं है वह हमें चेतन दीख रही है इसलिये वहाँ चेतन अध्यस्त है, भ्रम से दीख रहा है! जहाँ चेतन है वहाँ जड भी दीख रहा

है, चेतन जो मैं उसमें जड शरीर का गोरापन दीखता है 'मैं गोरा हूँ।' ऐसे ही शरीर का ब्राह्मणपन दीखता है 'मैं ब्राह्मण हूँ।' चेतन में जड के धर्म दीख जाते हैं व जड में चेतन दीख जाता है। इससे बड़े-बड़े विचारकों को भ्रम हो जाता है। वे समझते हैं कि जो झूठा दीखे वह झूठा होता है इसलिये झूठा दीखने से आत्मा भी अनात्मा के समान झूठा है। बौद्धों ने भी यही माना कि आत्मा भी मिथ्या ही है, है ही नहीं। ग़लती कहाँ हुई ? झूठा दीखना दो तरह का होता है: एक तो कोई चीज़ ही झूठी दीखे, और दूसरा चीज़ तो सच्ची होती है पर ग़लत ढंग से दीखती है, उसका सम्बन्ध तो झूठा है परन्तु चीज़ झूठी नहीं। पहले में स्वरूप ही अध्यस्त है, दूसरे में सच्ची चीज़ का झूठी चीज़ के साथ संसर्ग झूठा है, अध्यस्त है। जैसे सामने है रस्सी, दीखा साँप। यहाँ रस्सी की लम्बाई जितनी है उतना ही लम्बा साँप दीखता है। इसलिये साँप की जो लम्बाई दीखी वह सचमुच में तो सच्ची है, साँप के सम्बन्ध वाली दीखी इतना उसका झूठापन है। लम्बाई झूठी नहीं, 'साँप की', इतना झूठ है। साँप तो वहाँ सर्वथा नहीं है इसलिये पूरा ही, स्वरूप से ही वहाँ झूठा है। इसी प्रकार आत्मा स्वरूप से सच्चा होते हुए अनात्मा के संसर्ग वाला दीखता है बस इतना ही उसका झूठापन है, स्वरूप से तो सच्चा ही बना रहता है। अनात्मा स्वरूप से भी अध्यस्त है और उसका संबंध तो अध्यस्त होना ही हुआ। यह भेद समझे बिना भ्रम होना सहज है। यही स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने विचित्र शैली अपनायी। एक ही स्थल पर वे ऐसी विरुद्ध बात करते हैं जो बिना विचारे तो समझ न आये और विचार करो तो अभी बताया भेद समझ आ जाये। भगवान् कहते हैं

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।।'

अरे मेरा ऐश्वर योग, मेरी अद्भुत सामर्थ्य देखो। क्या सामर्थ्य है ? सारे प्राणी मुझ में स्थित हैं। बात सीधी है। बड़ी चीज़ में छोटी चीज़ें रहा करती हैं। परमेश्वर सर्वव्यापक हैं उनमें सारे प्राणी रहें यह ठीक है। पर वहीं

अगला वाक्य है 'न च मत्स्थानि भूतानि' मुझ में कुछ नहीं रहता, कोई भूत नहीं रहते ! लगता है बात बिल्कुल विरुद्ध है। पर वेदांती लोग ऐसी भाषा का प्रयोग करते ही हैं। ईशावास्य उपनिषदों के क्रम में पहली आती है। उसी में आता है 'अनेजदेकं मनसो जवीयः' परमात्मा हिलता भी नहीं और मन से भी तेज गति से दौड़ता है ! क्या समझ आवे ? हिलता नहीं तो भागे कैसे, भागता है तो हिलता नहीं यह कैसे ? यहाँ गीता में भी अभी कहा था 'न सत्तन्नासदुच्यते'। हम दो ही जातियाँ जानते हैं, चीज़ या है या नहीं है। भगवान् कहते हैं कि परमात्मा न है न नहीं है ! ऐसे ही भूत हैं और नहीं हैं यह विलक्षण योग बता रहे हैं। आचार्य शंकर समझाते हैं 'मयात्मनात्मत्वेन स्थितान्यतो मयि स्थितानि' सारे पदार्थ मेरे स्वरूप हैं इसलिये कहे जाते हैं कि मुझ में स्थित हैं। कहा जाता है कि लहरें, बुदबुदे आदि समुद्र में हैं; समुद्र में वे नहीं हैं; समुद्र ही तो उन रूपों में है। पानी से अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं है। ऐसे ही भगवत्स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं इसलिये सब उस स्वरूप में स्थित हैं। वस्तुतः भगवान् ही उन सब रूपों में प्रतीत हो रहे हैं इसलिये उन्हे भगवान् 'में' नहीं कहा जा सकता। भगवान् से भिन्न सत्ता हो तो उन्हें भगवान् में कहा जाये। पानी से अलग हो तभी कहना बनेगा कि पानी में लहर है। है लहर पानी ही, दीखती है पानी में। जब तक यह न समझा जाये कि पानी सच्चा है, उसमें लहरादि की प्रतीति है, वे शकलें कल्पित हैं, शकलें आती-जाती हैं, पानी वही रहता है, तब तक लहर आकार में अध्यस्त होने से पानी को भी झूठा समझने की गलती से बचा नहीं जा सकता। ऐसे ही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थायें आती-जाती रहती है, मैं जानने वाला वैसा का वैसा बना रहता हूँ। शास्त्र की बात समझने के लिये बड़ा ध्यान देना पड़ता है। आचार्य स्पष्ट करते हैं 'कल्पिताकल्पितयोः सम्बन्धायोगात्' कल्पित व अकल्पित का परस्पर संबंध नहीं बनता। रस्सी साँप-रूप से दीखती है पर रस्सी और साँप कहीं मिलते होवें, उनका कोई सम्बंध होवे ऐसा कुछ नहीं है। अज्ञानकाल में जो तुम्हे साँप दीख रहा है, ज्ञान होते हुए वही तुम्हे रस्सी दीखेगा। वहाँ दो चीज़े नहीं हैं। ऐसे ही अज्ञानकाल में जो इतना बड़ा संसार दीख रहा है, ज्ञानकाल में यही तुम्हे आनंद की स्थली दीखेगी। संसार अज्ञानकाल

में धोखे की टट्टी है वही ज्ञानकाल में आनंद की कुटिया है। आचार्य शंकर कहते हैं 'संपूर्ण जगदेव नन्दनवनं सर्वेपि कल्पद्रुमाः' यह सारा जगत् नंदनवन है। अभी हम समझते हैं कि बड़ी मेहनत कर स्वर्ग जायेंगे तब नन्दनवन मिलेगा। पर उसमें भी परिच्छिन्न सुख ही मिलेगा। अगर ज्ञानदृष्टि बन गयी तो चाहे जहाँ हो, एकमात्र आनन्दघन के सिवाय कुछ होगा नहीं। अज्ञान हटने पर ही ऐसा हो सकता है।

अध्यास हमें इस विचार में प्रवृत्त ही नहीं होने देता। एक बड़े पण्डित थे, न्याय विशेषरूप से पढ़ा। प्राचीन पंडितों को दिग्विजय करने का शौक होता था। वे भी जगह-जगह जाकर शास्त्रार्थ करते थे, जीतते थे। तथापि धन, विजय, सम्मान, ऐश्वर्य, शिष्य आदि पाकर भी चित्त में कोई शांति उन्हे न मिली। चित्त में अशांति का अनुभव कर सोचने लगे महात्माओं के पास जाना चाहिये। किसी महात्मा के पास गये तो उन्होंने वेदांत पढ़ने के लिये कहा। विद्वान् तो वे पंडित थे ही, दूसरे के सामने पुस्तक खोलकर बैठना उन्हे अच्छा न लगे। खुद ही वेदांत विचार करने लगे। वहाँ विचित्र विचार मिले। आत्मा का कोई रूप इत्यादि है नहीं यह पढ़ने को मिला। आत्मा का विस्तृत प्रतिपादन मिला और साथ ही पढ़ा की आत्मा अव्यपदेश्य है, उसे कहा ही नहीं जा सकता ! उन्हें लगा ये तो बातें असंभव हैं, यह शास्त्र व्यर्थ है। आत्मा को रूपादिहीन शास्त्रान्तर भी कहते हैं पर वे भी ऐसे ही अटपटे हैं। वेदांत तो और भी ऊटपटांग बातें कहता है। जिसे जानने के लिये मन बुद्धि कुछ न जाये, न कोई इंद्रिय उसे विषय करे, उसका ज्ञान करने को कहते हैं ! क्या नाक से सूर्य का दर्शन हो सकता है ?

वेदांत से निराश होकर किसी वैरागी महात्मा के पास गये और जिज्ञासा व्यक्त की। उन्होंने अध्यात्म-रामायण पढ़ने को कहा। उसमें मिला

'सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः।।'

सुख व दुःख देने वाला हमसे अन्य कोई नहीं। दूसरा हमें सुख-दुःख देता है यह कुबुद्धि है। मैं कर्ता हूँ यह बिल्कुल झूठा अभिमान है। अपने कर्मसूत्र में ही सब बँधे है। पण्डित जी को ये सब बातें भी जँची नहीं। यदि सुख-दुःख देने वाला कोई नहीं तो इतनी अदालतें काहे के लिये हैं ? राजा किस लिये हैं ? सारा व्यवहार यही तो मानकर है कि इस आदमी ने मेरा यह बिगाड़ा। अतः व्यासजी की बात व्यर्थ की है। अगर अपने कर्म से ही सब होता है तो रामजी ने अवतार ही क्यों लिया ! सीता को छुड़ाने काहे के लिये गये ? उस ग्रंथ को भी उन्होंने छोड़ दिया।

घूमते-घूमते वे बंगदेश में गौडीय वैष्णवों के पास पहुँचे। उन्होंने शांति का उपाय पुराणों का, भागवत का अध्ययन बताया। भागवत पढ़ने लगे। उसमें आया कि कामुक लोगों को अग्नि में जलाया जाता है। पण्डित जी ने सोचा कि काम खुद ही एक अग्नि है, अग्नि अग्नि को क्या जलायेगी ? यह ग्रंथ की भरोसेमंद नहीं।

अंत में काशी पहुँचे। वहाँ एक महात्मा के बारे में सुना कि वे भगवान् दक्षिणामूर्ति के उपासक होने से किसी से व्यर्थ बोलते नहीं, पर हैं ब्रह्मनिष्ठ, शांति का उपाय बता सकते हैं। भगवान् श्री दक्षिणामूर्ति ने मौन उपदेश दिया था। दक्षिण में उन्हे मौन-स्वामी भी कहते हैं और उनके संमुख मौन का पालन करते हैं। पंडित जी उन महात्मा के पास गये और शांति का उपाय पूछा। महात्मा ने सोचा कि यह विद्वान् है, जवाब देंगे तो उस पर और दस सवाल करेगा, आज का दिन विक्षेप में ही निकल जायेगा। इसलिये पहले कुछ नहीं बोले। पंडित जी ने बड़े विनय से प्रार्थना की 'भगवन् जानता मैं बहुत हूँ पर निष्ठा किसी चीज़ पर होती नहीं। मैं सचमुच मनःशांति के लिये आया हूँ, आपको विक्षेप देने के लिये नहीं।' महात्मा को दया आ गयी। उन्होंने उन से कहा 'जो पूछना हो पूछो।' पण्डित जी ने बताया 'महाराज ! शांति के लिये पहले वेदांत पढ़े तो यह अटपटी बात मिली कि जिस आत्मा में मन-बुद्धि की गति नहीं उसे जानो। ऐसे ही रामायण में मिला कि सुख-दुःख कोई नहीं देता; यह भी कैसे माना जाये, इससे फायदा क्या होगा ? उल्टा दुराचार बढ़ेंगे। भागवत में भी विरोध मिला।'

महात्मा चुप बैठे रहे। पंडित जी ने कहा 'महाराज, आपने अब मौन रहकर मेरा तिरस्कार किया तो मैं दुःख से इतना पीडित हूँ कि गंगा जी में कूद कर आत्महत्या कर लूँगा।' महात्मा समझ गये कि उनकी जिज्ञासा तब तीव्र थी। उन्होंने पंडित को ज़ोर से एक पत्थर मारा। पंडित जी को चोट लगी, गुस्सा आया, बोले 'बने हो महात्मा और क्रोध चाण्डाल की तरह करते हो ! संसार से दुःखी होकर शांति लेने आपके पास आया, आपने मुझे और दुःखी कर दिया।' गुस्से में महात्मा को घूँसे भी मार दिये। महात्मा शांति से हँसते रहे। अंत में महात्मा बोले 'भैया मैंने तो तेरे प्रश्नों का उत्तर दिया था। तुम्हे कष्ट देने से मुझे क्या प्रयोजन ?' पण्डित जी ने पूछा 'मारने से जवाब कैसे हुआ ?' महात्मा बोले 'तुझे पीडा हुई। उस पीडा का रूप-रंग, स्वर, भाषा, आयाम, स्पर्श, स्वाद आदि क्या है ? किस इंद्रिय का विषय है ? मैं तो मानता नहीं कि पीडा नामक कोई चीज़ है। तुम कहते हो पीडा है। अब मैं किस प्रमाण से जानूँ कि पीडा है ?' पण्डित जी ने कहा 'चाहे किसी प्रमाण का विषय न हो पर है अवश्य।' महात्मा ने उत्तर दिया 'इसी प्रकार वेदांत बतलाता है कि परब्रह्म परमात्मा को इंद्रियों से व अन्य प्रमाणों से नहीं जान सकते पर है ज़रूर।' पण्डित ने कहा 'मैं तो अपने अंदर इस पीडा को जान रहा हूँ। पर वह परमात्मतत्त्व मुझे भी अपने अंदर दीख नहीं रहा।' महात्मा ने कहा 'पत्थर लगने से पहले दीख रही थी तुम्हे पीडा ? पत्थर लगने पर न दीखी ? ठीक इसी प्रकार यद्यपि परमात्मा है स्वसंवेद्य तथापि जैसे पत्थर मारने से दर्द प्रकट हुई वैसे शास्त्रों का, उपनिषदों का ठीक प्रकार से विचार करने के बाद शब्द से ही, महावाक्य से ही उसका ज्ञान होगा। शब्द रूप पत्थर लगने पर ही परमेश्वर का साक्षात्कार होगा। जब मन संस्कारों से, श्रद्धा से युक्त होगा तभी शब्द उसमें अखण्ड ज्ञान पैदा करेगा। तुमने बिना श्रद्धा और संस्कारों के ही वेदांत पढ़े इसलिये तुम्हे ज्ञान नहीं हुआ, होगा उसी से।'

पण्डित जी ने उस उत्तर से संतुष्ट होकर अगले प्रश्न को उठाया 'सुख-दुःख देने वाला दूसरा नहीं, यह कैसे ?' महात्मा ने कहा 'इसका भी उत्तर दे चुका हूँ। तुम्हे अब पत्थर मारा तो तुम्हे निश्चय था कि मैंने पत्थर

मारा, मैं तुम्हे दुःख देने वाला हूँ। तुम्हे भी क्रोध आया। फिर तुमने देखा कि तुम्हारी प्रतिक्रियाओं पर भी मैं केवल हँसता रहा। मुझ में विकार देखा नहीं। क्यों ? कारण यह है कि मैं इस बात को जान रहा था कि तू मुझे नहीं मार रहा है, मेरा कर्म ही मुझे मार रहा है। इसलिये मुझमें कोई अशांति न आयी। सुख-दुःख देने वाला कोई दूसरा नहीं है इससे लाभ है कि तू जिस शांति को ढूँढ रहा है वह उसी निश्चय से मिलेगी। अन्यथा क्रिया-प्रतिक्रिया की परंपरा चलती ही रहेगी। इसे समाप्त करने का उपाय ही यह है कि मैं प्रतिक्रिया न करूँ। मेरा ही कर्म मुझ पर क्रिया कर रहा है तो मैं किस प्रतिक्रिया को करूँ ? अतः व्यास वचन ठीक है।'

पण्डित जी ने अपने तीसरे प्रश्न का समाधान पूछा। महात्मा ने कहा 'उसका भी जवाब दे ही दिया है। उस पत्थर को लाओ। इसे सूँघो तो गंध आती है इसलिये यह मिट्टी है। तुम अपने शरीर को भी सूँघो, गंध आती है इसलिये वह भी मिट्टी है। दोनों मिट्टी हैं तो पत्थर ने कष्ट कैसे दे दिया ? ऐसे ही अग्नितत्त्व का शरीर लेकर नरक में जायेगा फिर भी अग्नि से दाह हो जायेगा।'

पण्डित जी की बुद्धि शांत हुई, कुतर्कों की उथल-पुथल समाप्त हुई। उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के कारणभूत शब्द को सुनने के लिये महात्मा से प्रार्थना की। महात्मा ने धीरे-धीरे सारी बातें समझायी जिससे अंत में पण्डित की भी आत्मनिष्ठा बन गयी।

वेदांतों को सही संस्कारों से युक्त होकर व श्रद्धा से न पढ़ें तो कुछ समझ नहीं आता। लगता है बातें विरुद्ध हैं। यहाँ भी पहले सत् और असत् नहीं कहा जा सकता ऐसा आत्मा को बताया और फिर सब तरफ के हाथ-पैर आदि वाला उसे ही कह दिया। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि स्वरूप से इन सब में न होते हुए भी इनके द्वारा ही मालूम होता है। जैसे रस्सी में साँप दीखता है पर साँप तो रस्सी नहीं है फिर भी साँप को ही ध्यान से रोशनी डालकर देखोगे तब रस्सी का पता लगेगा। यदि सोचा कि मुझे तो रस्सी देखनी है, साँप देखना नहीं, तो अन्यत्र ढूँढू, तो क्या वह रस्सी दीखेगी ? ऐसे ही संसार को छोड़कर कहीं जाओगे तो ब्रह्म मिल जायेगा ऐसा नहीं है। इसी को ध्यान से देखना पड़ेगा। तभी स्वरूप की असलियत प्रकट होगी। इसीलिये अन्वेषण का स्थल भगवान् ने बताया—सारे प्राणियों के हाथ-पैर आदि में रहने वाली जो संवित् है उसे ग्रहण करना है।

छह

परब्रह्म परमात्मा ही वास्तविक चरम लक्ष्य है क्योंकि उसे पाने के बाद कुछ पाना बच नहीं जाता, उसे जानने के बाद कुछ जानना बच नहीं जाता। समस्त परिच्छिन्नताओं को, सीमाओं को समाप्त करने वाला परमात्मज्ञान ही है। पूर्णता में प्रवेश करने का यही साधन है। मनुष्य हमेशा सीमाओं से परे जाना चाहता है, परिच्छिन्नता इसे रुचती नहीं, रुकावट सहन होती नहीं। अनुभव जीव को परतंत्रताओं का होता है। अतः इसका चरम लक्ष्य है परम स्वातंत्र्य प्राप्त करना। क्योंकि प्रत्येक सीमा जीव को परतन्त्र बनाती है इसलिये सीमाओं की सर्वथा समाप्ति ही चरम लक्ष्य है। देश-काल-पदार्थ की सीमा इन्ही तीनों से परतंत्र बनाती है। बिना पूर्णता की प्राप्ति के परतंत्रता सर्वथा निवृत्त होती नहीं। पूर्ण को बताते हुए भगवान् ने पहले उस निर्विशेष स्वरूप का वर्णन किया जो ज्ञेय है। परन्तु निषेधमुख से ही वर्णन करें तो तत्त्व के विषय में संदेह होने लगता है कि वह है भी या नहीं। इसी संदेह को हटाने के लिये सविशेष रूप का भी वर्णन किया जो सब हाथ-पैर आदि वाला है। परब्रह्म ही ज्ञेय है, सद् और असद् दोनों प्रकारों से उसे समझना संभव नहीं। तब उसे समझने का उपाय क्या ? उसे पहचानने का साधन हर पदार्थ है। प्रत्येक कण उसे ही जना रहा है। संसार के समस्त हाथ-पैरों द्वारा वही जाना जाता है। जैसे ऊर्जा कार्य से पता लगती है सीधे ही उसका स्वरूप समझ आता नहीं। बिजली एक ऊर्जा है। बिजली का स्वरूप क्या—यह कोई भी ठीक-ठीक बता नहीं सकता। बिजली का अपना क्या रूप है यह वैज्ञानिक भी बता नहीं पायेगा। परन्तु लट्टू, पंखा, तापक, शीतक आदि के चलने से हमें बिजली का पता चल जाता है। बिजली अत्यंत विरुद्ध काम करती

है। तापक और शीतक में गरम और ठंडा करने वाली बिजलियाँ अलग-अलग नहीं हैं। जो बिजली लट्टू में प्रकाश देती है वही पंखे में गति देती है। इन कार्यों को देखकर हमें बिजली के बारे में निश्चय हो जाता है कि बिज़ली है, चल रही है। इनमें कोई भी कार्य बिजली नहीं यद्यपि इन सभी कार्यों का होना बिजली पर निर्भर है। बिजली का स्वरूप इन सबसे परे है। ऐसे ही परमात्मा को समझना चाहते हो तो हाथ-पैर आदि से समझ सकते हो। भगवान् ने कहा 'लोके' इस लोक में ही परमात्मा को जान सकते हो इसके लिये अन्यत्र जाना ज़रूरी नहीं। चित्रों में भगवान् के विराट् रूप में इकट्ठे ही हज़ारों सिर पैर दिखा दिया करते हैं। साधारण व्यक्ति सोचता है कि किसी लोकांतर में या ध्यान में ऐसी मूर्ति का दर्शन होता होगा। इस प्रकार की संभावना हटाने के लिये ही कहा 'लोके'। इस संसार में ही जो हाथ-पैर, आँखें, सिर, मुख, कान दीख रहे हैं इन सब में समझ आता है कि कोई है जिससे ये सब अपने-अपने काम करते हैं। वह है तब देखना आदि सब हो रहा है, वह नहीं तो यह कुछ नहीं होता। अतः उसके होने से क्या-क्या होता है यह पता लगता है। केवल एक शरीर में नहीं, सर्वत्र हाथादि चलाने वाला वही एक है। ऐसा नहीं कि पुलिस की और आतंकवादी की गोलियाँ चलाने वाले अलग-अलग हैं ! जो परमात्मतत्त्व पुलिस के हाथ से गोली चलवाता है वही आतंकवादी के हाथ से भी गोली चलवाता है। भ्रम यह है कि हम सब को अलग-अलग समझते हैं। गाँव के साधारण आदमी को भ्रम हो सकता है कि ठण्डा करने वाली और गरम करने वाली बिजली एक कैसे हो सकती है ? वह दोनों कामों की बिजलियाँ अलग समझता है। हम भी इसी तरह राम के हाथ-पैर चलाने वाला कोई और होगा तथा रावण के हाथ पैर चलाने वाला कोई और होगा, ऐसा मानते हैं। इसीलिये भगवान् ने केवल तुम्हारे (किसी एक के) हाथ-पैर चलाने वाला ही ज्ञेय है ऐसा नहीं कहा बल्कि जो सबको चलाने वाला है वह ज्ञेय है यह कहा।

सब को वह चलाता किससे है ? अपनी शक्ति से। जैसे बिजली में यह शक्ति है कि विभिन्न यंत्रों में विद्यमान होकर उन्हें विभिन्न कार्यों

में प्रवृत्त करे, ऐसे ही परमात्मा की माया शक्ति से ही परमात्मा सब विभिन्न कार्य कर लेता है। उस माया में अनन्त सामर्थ्य है। न जाने कितनी सृष्टियाँ हो चुकी पर शक्ति में कोई कमी नहीं आयी। उसकी अनंतता एक ही दृष्टांत से स्पष्ट हो जायेगी। कम से कम गत डेढ़ सौ वर्षों से प्रायः सभी देशों में लोगों की अंगुलियों की छाप ली जाती है पर अरबों आदमियों की छापों में कोई दो छापें एक-सी नहीं निकली! आदमियों की बात छोड़ो एक आदमी की भी पाँचों अंगुलियों की छाप एक-सी होती नहीं। आजकल कपड़ों के डिज़ाइन बनाने वाले अपनी कल्पनाओं पर बड़ा घमण्ड करते हैं पर घूम-फिर कर चालीस-पचास सालों के डिज़ाइन पुनरावृत्त होते रहते हैं। हमारी सीमा इतनी ही है। दस-बीस साल तक ही नया रूप बना पाते हैं और वह भी हर व्यक्ति के लिये अलग नहीं, दस-बीस हज़ार लोगों के लिये एक ही डिज़ाइन चलता है। परमात्मा की शक्ति निःसीम है। अनन्त वस्तुएँ नित्य बनाता है फिर भी कहीं पुनरावृत्ति की कोई ज़रूरत नहीं।

एक प्रश्न प्रायः उठता है : अविद्या कहाँ रहती है ? आचार्यप्रवर मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं 'अविद्याया आश्रयः शुद्धं ब्रह्मैव।' शुद्ध परब्रह्म परमात्मा में ही अविद्या रहती है। यह सुनकर लोग चौंकते हैं क्योंकि ज्ञानस्वरूप परमात्मा में अज्ञान कैसे रहेगा यह समझ आता नहीं। आँख में मोतियाबिंद उतरता है जो चीज़ें साफ नहीं देखने देता इसलिये दोष है। साथ ही वह इस सही बात को भी बतलाता है कि पूर्व जन्म में मैंने कोई पाप किया था जिसके फलस्वरूप मुझ में यह रोग आया है। अन्य वस्तुओं का ग़लत ज्ञान कराने पर भी मुझमें होने वाले अधर्म का ठीक ज्ञान भी मोतियाबिंद करा देता है। सही ज्ञान कराता हुआ मोतियाबिंद दोष नहीं है। ऐसे ही परमात्मा मायाशक्ति द्वारा सारे संसार की सृष्टि करता है पर वह माया उसे आवृत नहीं करती, उसके ज्ञान को ढाँकती नहीं। उसका अद्वितीय ज्ञान यथावत् बना रहता है। हम पर तो अज्ञान का आवरण काम करता है, हमें अपनी असीमता, अनंतता, पूर्णता देखने नहीं देता। अतः ब्रह्म में रहने वाली अविद्या उसे दोष वाला नहीं करती जबकि हमें दोष वाला कर देती है। पद्मपादाचार्य ने दूसरा दृष्टान्त यह दिया है : काँच के सामने हमने अपना मुँह किया, इससे हमारे मुख में बिम्बरूपता

आयी और काँच में प्रतिबिम्बरूप एक मुख दीख रहा है। काँच सामने आने के पहले एक मुँह था, वह सामने है तो दो मुख दीख रहे हैं। हमारे बिम्बरूप मुख में काँच के दोषों से कोई दोष आता नहीं, काँच की मैल मुँह पर नहीं आयेगी। परन्तु काँच में दीखने वाले प्रतिबिम्ब मुख में काँच के दोष आ जायेंगे। अगर काँच टेढ़ा-मेढ़ा है तो उसमें प्रतिबिम्ब टेढ़ा-मेढ़ा दीखेगा। पुराने ज़माने में सर्कस आते थे तो तरह-तरह के काँच रखे होते थे जिनमें मुँह नाना प्रकार के दीखा करते थे। मोटर के चमचमाते बम्पर में भी ऐसे ही दीखते हैं। अतः प्रतिबिम्ब में सारे विकार आते हैं पर बिम्ब ऐसा का ऐसा बना रहता है। दर्पण से सम्बन्ध वाले तो दोनों मुँह हैं, दर्पण के कारण ही एक बिम्ब है व दूसरा प्रतिबिम्ब है, लेकिन एक में विकार है, दूसरे में नहीं। ऐसे ही प्रतिबिंबरूप जीव में संसारिता, ससीमता, परतंत्रता आदि सब आ जाते हैं पर माया बिम्बरूप परमात्मा में कोई परिवर्तन लाती नहीं। उपाधि से प्रतिबिम्ब में ही कार्यविशेष उत्पन्न होते हैं। माया जीव को ही ढकती है इसलिये आवरणप्रयुक्त मनआदि कार्यों को जीव में पैदा करती है, ब्रह्म में पैदा करती नहीं। इसलिये माया शुद्ध ब्रह्म में है यह सुनकर घबराना नहीं चाहिये। उसमें वह शक्तिरूप से है, हम पर आवरण डालने वाली बन जाती है।

दूसरी शंका होती है कि ज्ञानस्वरूप होने के कारण ब्रह्म अज्ञान को नष्ट क्यों नहीं कर देता ? ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अज्ञान का नाशक नहीं है। सूर्य घास को बढ़ाता है। इसीलिये बगीचे में बड़े पेड़ हों तो घास ठीक से उगती नहीं। घास को बढ़ने के लिए धूप चाहिये। लेकिन यदि आतशी शीशे से सूर्य की किरणों को घास पर केन्द्रित करो तो घास जल जाती है। किसने जलाया ? क्या आतशी शीशे ने जलाया ? यदि ऐसा हो तो रात में भी शीशा जला देवे ! अतः जलाने वाला सूर्य है। यदि ऐसा है तो वह बाकी दिन क्यों नहीं घास जलाता ? सूर्यकांतमणि पर, आतशी शीशे पर चढ़ा हुआ जो सूर्य है वही घास को जलायेगा, अन्यथा पुष्ट करेगा। ऐसे ही परमात्मा की अखण्डाकार वृत्ति पर चढ़ा हुआ वह ब्रह्म तो ज़रूर अविद्या को नष्ट करेगा, पर उस वृत्ति के बिना परमात्मा इस संसार को पुष्ट की करता रहेगा। चैतन्यमात्ररूप ज्ञान अविद्या-निवारक नहीं किंतु

वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही वैसा है। वही परमात्मा सारे जगत् को पुष्ट करने वाला, चलाने वाला, हाथ-पैर आदि सभी को वह चला रहा है। वही परमात्मा विशेषवृत्ति वाला होने पर संसार को जला डालता है।

एक बार श्रीकृष्ण द्वारका में थे। इंद्र बड़ा घबराया हुआ वहाँ पहुँचा बोला 'महाराज ! प्राग्ज्योतिष्पुर में नरकासुर नामक असुर है जिसने देवताओं को हरा दिया है और अधर्म बढ़ा रहा है। संसार के सोलह हज़ार राजाओं को नियंत्रण में कर उनकी कन्याओं को अपने कारागार में डाल दिया है।' आसुरी संस्कृति आज भी यही है, किसी को दबा लिया तो उसकी बहन-बेटी भगा ले जाओ। आसुरी संपत्ति वाले पद्मिनी को देखते हैं, कहते हैं 'यह मुझे चाहिये'। राजा हैं, 'राज्य पर अधिकार चाहिये' यह भाव गौण है, 'पद्मिनी चाहिये' यह प्रधान है। नरकासुर भी सब प्राणियों का अपघात कर रहा था अतः उसे नियंत्रित करना ज़रूरी था। ज्योतिष्पुर को आज तेज़पुर कहते हैं। अंग्रेजों ने ऐसा भ्रम पैदा कर रखा है कि असम आदि देश वस्तुतः भारत के अंग नहीं थे, मानो अंग्रेज़ों ने जीत कर उन्हे भारत से मिला दिया हो ! मुसलमान उन देशों को जीत पाये नहीं। हम लोगों को इतिहास ऐसा पढ़ाया जाता है कि मुसलमानों ने जितना जीता वह हिन्दुस्तान, बाकी हिन्दुस्तान के बाहर। इसीलिये यह भ्रम होता है। वहाँ के लोगों के लिये एक अनादर सूचक 'ट्राइबल' शब्द बना रखा है। विचार करो तो हम सभी ट्राइबल हैं, ट्राइब वाले ही हैं। किंतु उन्हे असंस्कृत कहने के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसे ही अंग्रेज़ों ने अपनी भाषा के लिये 'लेंग्वेज' शब्द रखा और हमारी भाषाओं के लिए 'वर्नेक्युलर' शब्द रखा जिससे कुछ अनादर व्यक्त हो। इसी संस्कार से हम स्वयं अपनी भाषाओं को वैज्ञानिकादि आधुनिक शिक्षा के लिये अक्षम मानने लगे हैं। इसी तरह स्वयं को 'मुख्य धारा' मानकर असम आदि स्थान वालों को ग़ैर-मुख्य मान बैठना केवल मन-मानी है और आपसी अखण्डता का विरोधी है।

इंद्र की प्रार्थना पर भगवान् उसकी मदद के लिये प्राग्ज्योतिष्पुर पहुँचे और नरक को खबर भेजी 'या तुम अपनी आसुर प्रवृत्तियाँ छोड़ो या युद्ध के लिये तैयार हो जाओ।' नरकासुर ने पाँच सिर वाले मुर-नामक सेनापति को पहले लड़ने भेजा। मुर अपने सातों लड़कों को लेकर तथा अन्य फौज लेकर भगवान् से लड़ने पहुँचा। युद्ध में सपुत्र मुर मारा गया। फिर हयग्रीव आया और परास्त होकर समाप्त हुआ। तब भगवान् ने पांचजन्य शंख बजाया जिसका नाद सुनकर नरक घबराया और खुद ही लड़ने आया। युद्ध में भगवान् ने चक्र से नरक का सिर काट दिया। तब पृथ्वी ने प्रकट होकर कहा 'भगवन्! यह आपका ही बच्चा है।' भगवान् ने पूछा 'कैसे ?' उसने याद दिलाया 'जब आपने वराहावतार में मुझे समुद्र से निकाला था तब आपके स्पर्श से मुझ से यह पैदा हुआ था। अतः इसकी सद्गति होनी चाहिये।' भगवान् ने कृपा कर उसकी सद्गति कर दी। फिर सोलह हजार राजकन्याओं से भगवान् ने पूछा 'तुम लोग क्या चाहती हो ? तुम्हे तुम्हारे पिताओं के पास भेज दें ?' उन्होंने पिताओं के पास जाने से मना कर दिया और भगवान् को ही वरण कर लिया। तब भगवान् ने सबसे विवाह किया व सभी को लाकर द्वारका में यथानियम स्थापित किया।

इस कथा से शास्त्रकार कोई सूक्ष्म बात भी बताना चाहते हैं। अल्प हुआ नर अर्थात् जीव ही नरक नामक असुर है। राज्य यह प्राग्ज्योतिष्पुर पर करता है, ज्ञानप्रकाश का राज्य करता है। पर है असुर, प्राणों में रमण करने वाला। प्राणों का धर्म है खाना-पीना। अतः जो माने 'खाओ पिओ मौज करो' वह असुर है। पैदा तो विष्णु और पृथ्वी अर्थात् मायायोनि से हुआ है। परब्रह्म परमात्मा ही इसके पिता हैं। माया इसकी माता है। परमात्मा से पैदा होने के कारण इसके वंश में कोई खराबी नहीं है। पिता की जाति का ही न लड़का होता है ! फिर भी कुसंगवश यह बन गया है असुर। भगवान् ने जब सूकरमूर्ति ली थी तब नरक पैदा हुआ था। सूकर के शरीर पर मैल चिपका रहता है। परमात्मा ने भी स्वयं को माया से आवृत कर ही जीव को उत्पन्न किया, जीवरूप से प्रवेश किया। इसी से हममें आसुरता आ गयी। यदि माया का लेप, आवरण हम हटा

पायें तो हमें और कुछ न करना होगा, क्योंकि वंश तो शुद्ध ही है। नरकासुर राज्यों से लड़कियाँ ले आता है। जीव सर्वत्र से वासनायें बटोरता ही रहता है। कर्मेन्द्रियों से सम्बद्ध, ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्द्ध, प्राणों से सम्बद्ध व मन से सम्बद्ध इस प्रकार सोलह से सम्बद्ध हज़ार अर्थात् अनंत वासनायें हम में हैं जैसे नरक ने सोलह हज़ार लड़कियाँ कैद कर रखी थी। किसी समय जब इसका अत्याचार बढ़ता है तब इसके दमन का समय आता है। जैसे इंद्र ने भगवान् से कहा ऐसे किसी ब्रह्मनिष्ठ की दृष्टि पड़ती है—इस जीव का कल्याण करना है। कल्याण करने वाला तो परमात्मा ही है, ज्ञेय ब्रह्म ही है। भगवान् के सम्मुख आने पर जीव पहले उनका सामना मुर से कराता है। मुर के पाँच सिर हैं। पाँच प्रकार के भ्रम ही पाँच सिर हैं। जीव-ईश्वर अलग-अलग हैं, जीव का कर्तापन सच्चा है, जीव दोष वाला हो जाता है, जगत्कारण परमेश्वर विकार वाला है और जगत् परमात्मा से भिन्न होकर अपनी सच्चाई से सच्चा है ये पाँच भ्रम हैं। पहले इन्हें नष्ट करना आवश्यक है। इसके बाद ही नरक मरता है। उसके मरने के बाद उसने जितनी वासनायें इकट्ठी कर रखी थी वे सारी भगवान् की तरफ हो गयी, सारी वृत्तियाँ परमेश्वर को विषय करने लगती हैं। इसीलिये सब हाथ-पैर वाला ईश्वर को कहा। अखण्डबोध के पहले सोचता था परमात्मा को कहाँ पाऊँगा ? और इसके बाद जहाँ देखता है वहाँ परमात्मा के सिवाय कोई चीज़ वास्तविक नज़र आती ही नहीं। जहाँ जो भी है सब परमात्मरूप है।

सात

उस चरम लक्ष्य का निरूपण करते हुए जिसे जानकर व पाकर कुछ जानना व पाना बच न जाये, उसके सर्वव्यापकरूप का निरूपण किया। प्रश्न होता है कि क्या यही उसका रूप है ? संसार में दो तरह की विचारधारायें प्रवृत्त होती हैं : दुःखवाद की परंपरा और भोगवाद की परंपरा। पहली को ऋग्वेद में नर्य संस्कृति और दूसरी को मर्य संस्कृति कहा। इन दोनों का परित्याग कर दिव्य संस्कृति का प्रतिपादन वेद को विवक्षित है। यदि हम संसार को जैसा है वैसा ही देखते और स्वीकारते हैं तो हमें चारों तरफ दुःख ही दुःख नज़र आता है। स्वाभाविक है कि हमें संसार दुःखरूप लगता है इसलिये इससे हटकर चाहे समाधि में पहुँच जायें चाहे लोकांतर में पहुँचें, इससे हटें तभी शांति हो। यह दुःखवाद की परंपरा है। इसमें किसी न किसी प्रकार से संसार से भौतिक रूप से हटने पर जोर है। दूसरी दृष्टि है कि इस संसार से अतिरिक्त और कहीं कुछ मिलता नहीं इसलिये भगवान् पद्मपादाचार्य कहते हैं कि मछली में काँटे होते हैं इस भय से कोई मछली खाना छोड़ता नहीं, यथासंभव उनसे बचता है; ऐसे ही चाहे चारों ओर दुःख दीखे, यथासंभव उस दुःख से बचते हुए संसार का भोग करना बस यही लक्ष्य है क्योंकि इसके सिवाय और कुछ दीखता नहीं। वर्तमान काल में यही विचारधारा प्रधान है : जितना किया जा सके उतना भोग कर लेना चाहिये।

भगवान् सावधान करते हैं कि ये दोनों बातें परिच्छिन्न भाव वालों की हैं।

'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।'

सारी इंद्रियां—ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ और अंतःकरण इनके द्वारा देखना, सुनना, बोलना, चलना, सोचना, समझना जो कुछ होता है, यह सब इंद्रियगुण हैं जिनसे जो वस्तुतः आभासित होता है, प्रकाशित होता है वह तत्त्व है। सामान्य बुद्धि वाला समझता है कि यदि हमने रूप देखा तो हमें रूप का पता लगा। इंद्रियों के गुण द्वारा जो हुआ उसका पता लगा। पर भगवान् कहते हैं यहाँ कुछ विचारणीय है। आँख से रूप तो दीखा ही पर क्या इससे तुम्हारी देखने की शक्ति प्रकाशित नहीं हुई ? रूप दीखा और साथ ही रूप देखने की शक्ति भी आभासित हो गयी। प्रायः रूप देखते हुए रूप देखने वाले को भूल जाता है। वह है क्षेत्रज्ञ। वह है ज्ञेय।

एक बार कोई रानी मिलने आयी थी। जब वह चली गयी तो वहाँ बैठे लोगों से हमने कहा कि बात तो बुद्धिमत्ता की पूछ रही थी। पर वहाँ दो-तीन औरतें बैठी थीं। उन्होंने कहा 'महाराज हमें कुछ पता नहीं वह क्या बोल रही थी। उसने जो हीरे की अंगूठी पहन रखी थी हम उसी की कीमत आँकती रहीं।' जिसने पहना था उसकी ओर ध्यान नहीं दिया, केवल ऊपरी आभरण को ही देखते रहे। स्वयं वेद भी कहता है 'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' लोग परमात्मा के बगीचे को तो देखते हैं, परमात्मा को कोई नहीं देखता। बगीचे को देखकर आश्चर्य भी करते हैं, मुग्ध होते हैं। फिर भी इसे बनाने वाले को न कोई देखता है न देखने का प्रयत्न करता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि इंद्रियगुणों से हमें उसकी अनन्तता का पता लगता है। परमेश्वर की अनंतता जब सारे विश्व में प्रकाशित हो रही है तभी न अनंतता है। उसकी अनंतता वैसी नहीं जैसे कोई व्यक्ति नदी तट पर खड़ा है। सब लोग तैर कर नदी पार कर रहे हैं। कोई उससे पूछता है 'आप क्या कभी तैरते नहीं ?' और वह उत्तर देता है 'तैरूँ तब तो मैं बीस बार इस पार से उस पार जा सकता हूँ, पर नहा लोटे से ही लेता हूँ।' प्रायः अनंतता की बात होने पर हम लोग समझते हैं कि परमेश्वर की अनंतता ऐसी छूछी ही होगी। ऐसी संभावना हटाने के लिये ही अविद्याशक्ति का इतना बड़ा विस्तार कर अनंतता को परमेश्वर प्रकट करता है। जैसे उस हीरे को देखकर भी उस

औरत को नहीं देखा वैसे ही विश्व को देखकर इस पर मुग्ध हो जात्ते हैं और विश्वकर्ता को नहीं देखते। यदि उसका पता केवल इंद्रियव्यवहारों से ही लगता होवे तो भी स्थिति विचित्र है। चारों तरफ अनंतता में हमें अधिकतर दुःख ही नज़र आता है। हम यह नहीं कह रहे कि दुःख है। दुःख नजर आता है। नजर हमें दुःख इसलिये आता है कि हम स्वयं अनंत नहीं हैं। बाढ़ आती है, लोग कहते हैं 'बहुत बुरा हुआ, इतने आदमी मर गये।' क्या कभी यह भी सोचा कि उस बाढ़ के कारण कितनी मछलियाँ बढ़ गयीं। ऐसे ही मलेरिया होता है, दो-चार हज़ार लोग बीमार हो जाते हैं, सौ-पचास मर जाते हैं। लोग कहते हैं 'बहुत बुरा हो रहा है।' क्या कभी हम सोचते हैं कि मच्छर कितने प्रसन्न हो रहे हैं ! जब हम मनुष्य को ही केन्द्र मान लेते हैं तब हमें लगता है कि संसार दुःखरूप है। यह परिच्छिन्न दृष्टि का फल है। परमेश्वर तो कीट-पतंग, इन्द्र-वरुणादि देवता और मनुष्य सबके लिये एक सा है। उसकी दृष्टि सर्वकल्याण की है। हमारी परिच्छिन्न दृष्टि होने से हमें दुःख ही अधिक दीखना स्वाभाविक है। न होने पर भी हमें नज़र आता है और इसीलिये लगता है सुख के लिये इससे हटकर कहीं जाना पड़ेगा। इसीलिये कहा कि परमात्मा जिस समय सारे इंद्रियगुणों से आभासित हो रहा है उसी समय सारी इंद्रियों से रहित है। इंद्रियों से हटकर इंद्रियविवर्जित हो ऐसा नहीं, इंद्रिय-गुणाभास होते हुए ही इन्द्रियों से विवर्जित है। ये दोनों बातें समझने पर यह स्पष्ट होता है कि हमारा न दुःखवाद है, न भोगवाद। हम संसार को न दुःखरूप मानते हैं, न भोग भोगने का स्थल मानते हैं। हम तो संसार को दिव्य मानते हैं। आनंदस्वरूप परमात्मा से प्रसृत हुआ, फैला हुआ यह संसार वस्तुतः आनन्दस्वरूप ही है। हम उसके आनंदरूप को समझें इसके लिये वह सर्वेन्द्रियविवर्जित है। जब विद्यावृत्ति से सर्वेन्द्रियविवर्जित देखते हैं तब दुःखरूप प्रतीत होने वाला वस्तुतः है ही नहीं। यह आनंद की दृष्टि है। आचार्य शंकर दृष्टांत देते हैं : बाजीगर तुम्हारे सामने बहुत बड़ा खेल दिखाता है। पुराने समय में विलक्षण बाजीगर होते थे। एक डोरी ऊपर फेंकते थे, उस पर चढ़कर ऊपर चले जाते थे। फिर उनके शरीर के टुकड़े

होकर नीचे गिर जाते थे और उसके बाद वे स्वयं ऊपर से नीचे उतर आते थे ! जो तो सच्चा बाजीगर था वह तो पूरे खेल के समय कोने में कहीं खड़ा ही रहता था। उसे कोई देखता नहीं था। सारा खेल उसने अपनी ऐन्द्रजालिक शक्ति से प्रकट किया। जो डोरी पर चढ़ता है वह भी बाजीगर नहीं। जो टुकड़े गिरे वे भी बाजीगर के शरीर के नहीं। जो नीचे उतरा वह भी बाजीगर नहीं। इस खेल से ही बाजीगर की महत्ता पता चलती है जबकि खेल में वह दीखता नहीं। स्वयं खेल से दूर रहते हुए ही अपनी मायाशक्ति प्रकट कर रहा है। वस्तुतः सर्वेन्द्रियविवर्जित रहते हुए ही सर्वेन्द्रियगुणाभास है।

इसी दृष्टि से समझ आ सकता है 'असक्तं सर्वभृच्चैव' स्वरूपतः सर्वथा असक्त है, किसी चीज़ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। फिर भी वही इस सारे संसार को धारण कर रहा है। जिस प्रकार राजस्थान की बालू पानी की एक बूँद से भी गीली हुए बिना बड़े तालाब को अपने पर धारण कर लेती है उसी प्रकार भगवान् ने धारण किया है। मिरगी के जल को दिखाने वाली वहाँ की बालू है। वह जल निराधार नहीं है। यद्यपि उस पानी से उस बालू के एक कण में भी गीलापन आता नहीं तथापि धारण उसे वही करती है। परब्रह्म परमात्मा भी असक्त रहते हुए ही सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है, उसके सिवाय इसे धारण करने वाला कोई नहीं है।

वह सर्वथा गुणरहित होते हुए ही सारे गुणों का भोक्ता क्षेत्रज्ञ बना हुआ है। दुःखवाद कहता है क्षेत्र से हटो। भोगवाद कहता है क्षेत्र में फँसो। वैदिक सिद्धांत कहता है कि इन दोनों से विपरीत, अपने स्वरूप में स्थित होकर क्षेत्र को देखते रहो। इसी दृष्टि से आचरण करने वाले के लिये कहा

'अन्तःसन्त्यक्तसर्वाशः वीतरागो विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः।।'

अन्दर अपनी वास्तविकता में असंग गुणरहित स्वरूप में स्थित होते हुए किसी भी चीज़ की कोई आशा नहीं है। मोटर चला कर जहाँ जा रहे हो

उस अपने गन्तव्य का होना भी एक व्यर्थ की कल्पना है यह निश्चय बना रहता है। इसीलिये पहुँचने की भी आशा नहीं। ऐसा हो तो क्षणमात्र को भी व्यक्ति दुःखी न हो। इस प्रकार अपने सर्वेन्द्रियविवर्जित रूप में स्थिर रहते हुए ही वास्तविक वीतरागता पा सकते हैं। मनुष्य को भोगवाद में प्रवृत्ति कराने वाले राग ही हैं। किसी भी चीज़ से हमारा संपर्क हुआ, उससे थोड़ा सा सुख मिला और तुरंत उस चीज़ का रंग हमारे मन पर चढ़ गया। रंग को ही संस्कृत में राग कहते हैं। इसलिये हम बार-बार उस अनुभव को दुहराना चाहते हैं। पर संसार निरंतर परिवर्तन वाला है। जिस गंगाजल में प्रातः स्नान किया उसमें सायं स्नान नहीं कर सकते। वह जल न जाने कहाँ गया हो ! यदि चाहें कि उसी गंगाजल में नहायें तो कभी नहीं नहा पायेंगे। इस समय घाट पर जो गंगाजल है, नहाना उसी में है। जो अनुभव हमें किसी एक क्षण में हुआ उसके बाद देश-कालादि के और स्वयं हमारे शरीर-इंद्रिय-मन के बहुतेरे प्रवाह हो गये, पर राग कहता है कि वही परिस्थिति फिर हो जाये। यहीं से दुःख का बीज प्रारंभ होता है। जो इस समय वर्तमान है उसी का अनुभव किया जा सकता है। प्रत्येक वर्तमान क्षण में ही परिपूर्णता लानी है। यही वीतरागता है। जब तक इस प्रकार की वीतरागता नहीं आयेगी तब तक आनंद की प्राप्ति हो ही नहीं सकेगी। अंदर से आशा, राग, वासना न हो पर बाहर से सारे सम्यग् आचार होवें। मोटर सही ढंग से चलानी है, सही मोड़ों पर मुड़ना है पर गंतव्य पर पहुँच जायेंगे ऐसी कोई आशा नहीं है। अविद्याद्वारा सब होते हुए भी विद्या से स्वरूप में स्थिर होने पर ही ज्वरों से, दुःखों से सर्वथा असम्बन्ध हो सकता है। बाहर से सारे संरंभ करता है, 'यह करना है, यह भी करना हे, मेरे करने से होगा' ऐसा व्यवहार करता है। इसे समझाने के लिए उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने कहा है 'गोपुरधारि-प्रतिमावत् संसारभारवाहिता': दक्षिण में बड़े बड़े गोपुर बनते हैं। उन्हें धारण तो उनकी नींव करती है। पर गोपुरों के नीचे बड़े बड़े आदमी बनाये जाते हैं जो अपने सिर पर गोपुर लिए हुए दिखाये जाते हैं। वहाँ दीखता है कि गोपुर धारण करने वाले वे लोग हैं पर वस्तुतः वे स्वयं गोपुर के अंग हैं, वे धारण कर नहीं रहे। इसी तरह

सारे संसार के समग्र भार का वहन करने वाला तो परब्रह्म परमात्मा है, दीखता है मानो हम इस भार को ढो रहे हैं। इसे समझ लें तो इस ढोने का अभिनय तो करते हैं, उस मूर्ति की तरह, लेकिन निश्चय हमारा बना रहता है कि हम पर कोई बोझ है नहीं।

रहूगणों ने जड भरत को अपनी पालकी में जुतवा दिया था। जड भरत नियमानुसार चींटी आदि बचाकर चलते थे तो पालकी उलट-पुलट जाती थी। रहूगण ने पूछा 'दीखता तो मोटा तगड़ा है, पालकी का भार अधिक लग रहा है क्या ?' भरत हँस पड़े, बोले 'मुझे क्या भार लगेगा ? तुम पालकी पर, पालकी कंधों पर, कंधे पैरों पर और पैर जमीन पर हैं। मुझे क्या भार लगेगा ?' जैसे गोपुर को धारण करने वाली मूर्ति पर दीखता तो है पर भार है बिल्कुल नहीं ऐसे ही सभी भार जो हमें अपने पर दीखते हैं वे हैं परमात्मा पर ही। अभिनय भले ही सारे भार ढोने का कर ले, अंदर यह जानता है कि यह सब कुछ वस्तुतः है नहीं। शुद्धबुद्धि हो जाने पर आचरण इसी ढंग के हो जाते हैं। भीतर से सभी संगों का राहित्य होता है। बाहर से संग वैसा प्रकट कर देता है जैसा संसारियों का होता है। जैसे नाटक में लड़कों को स्त्रीवेश वाला बना देते हैं, वे लड़की की तरह ही चलना-बोलना सब करते हैं पर क्या उसके मन में कभी भी किसी पुरुष का भोग करने की कामना हो सकती है ? ऐसे ही सारे भावों को बाहर से संगवान् की तरह, संसारवान् की तरह प्रकट करते हुए भी अंदर से सर्वथा उन्हें छोड़े हुए है।

ऐसा व्यक्ति उदार होता है क्योंकि अनुदारता भी परिच्छिन्न भाव से ही आती है जो उसमें है नहीं। उसके आचरण मृदु होते हैं, वह पेशलाचार वाला होता है। कठोर आचरण उसके नहीं होते। फिर भी मैं आचारवान् हूँ ऐसी उसकी दृष्टि बनती नहीं। इस स्थिति को पाने के लिये ही भगवान् ने कहा 'असक्तः सर्वभृच्चैव'। उस ज्ञेय से जब एक हो जाओगे तब तुम्हारा स्वरूप यही होगा। सब चीज़ों को यथायोग्य धारण करते हुए भी असक्त ही रहोगे। इस भाव तक पहुँचने के लिये निरंतर अभ्यास की ज़रूरत है। कैसा अभ्यास ? तुम्हारे भीतर हमेशा आग लग रही है। कैसी आग ? बिना

ईंधन के जलने वाली। तुममें वह जो परब्रह्म परमात्मा बैठा हुआ है वही आग है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही कहा है 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ग़ैर-समझ लोग कहते हैं ऋषि ठण्ड में रहते होंगे इसलिये आग की प्रार्थना करते रहे होंगे। पर वस्तुतः क्या कारण है कि वेद में सर्वप्रथम अग्निशब्द ही आया। निरुक्तकार स्पष्ट करते हैं कि जो हमेशा आगे की तरफ ले जाये वह परमात्मा अग्नि है। सायणाचार्य ने भी अग्नि इत्यादि शब्दों से एक परमेश्वर ही पुकारा जाता है ऐसा कहा है। परमात्मरूप अग्नि हममें जल रही है तभी न हम जीवित हैं। यह है कैसी ? बिना ईंधन के जलने वाली। परमात्मा की ऊर्जा को पूरा करने के लिये कोई ईंधन डालने की आवश्यकता नहीं। संसार में सब परेशान हैं कि जिस गति से हम ऊर्जा का प्रयोग करते जा रहे हैं, इसकी आपूर्ति कैसे होगी। लकड़ी, कोयला, गैस, पेट्रोल सभी तो खत्म हो रहे हैं। वैज्ञानिकों की दृष्टि जाती है सूर्य की ओर। उससे अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा आती है और वह ऊर्जा समाप्त होने की नहीं। इसीलिये वैदिक लोग हिरण्यगर्भ सूर्य को प्रतिदिन अर्घ्य देते हैं। जब सोपाधिक हिरण्यगर्भरूप सूर्य की ऊर्जा के लिये ही तुम्हे ईंधन डालने की ज़रूरत नहीं, तो यह हिरण्यगर्भ भी जिसके अंश का अंशमात्र है उसके लिये किस ईंधन की ज़रूरत होगी ?

उस निरिन्धन निरंतर जलने वाली अग्नि में ही हमें आहुति देनी है। काहे की ? ज्ञान में आहुति किस चीज़ की दोगे ? आँख द्वारा जब रूपग्रहण होता है तो अभी उसे तुम खा लेते हो, 'मैंने रूप देखा'। उसकी आहुति दो। जैसे चावल, तिल, जव तुम खा सकते थे पर तुमने न खाकर उसे आहुति में डाल दिया। अब तुम उस चावल आदि की कोई आशा नहीं करते। ऐसे ही आँख से जब रूप अंदर जाता है तब तुम भी उसके भोक्ता बन सकते हो, वह मत बनो। कूटस्थ चिन्मात्र परमात्मा के कारण ही दीखा है, उसी को अर्पण है यह निश्चय रखो। सारे विश्व की आहुति इसी निश्चय से उसमें देनी है। इस प्रकार सारे अनुभवों को निरंतर उसके अर्पण करते रहने से ही इस स्थिति की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। परंतु यह कब होवे ? जब वेद की बात सुनकर इसके अनुकूल हम आचरण

करने लगें। जब तक हम कर्ता-भोक्ता बने रहेंगे तब तक यह आहुति पड़ेगी नहीं, कभी भी राग व वासना के जाल से छूटोगे नहीं। दुःखवादी कहता है क्षेत्र से दूर हटो पर वैदिक दृष्टिकोण कहता है कि क्षेत्र से दूर मत हटो पर वह जिसका है उसे दे दो। तुम्हे केवल मध्यस्थ, साक्षी, देखने वाला बनाया गया था, जबर्दस्ती कर्तृत्व-भोक्तृत्व तुम लाते हो। जितनी तुम्हारी उपाधियाँ हैं वे सब तुम्हारी बनायी तो हैं नहीं।

एक बड़ा हिसाब लगाने वाला सज्जन था। उसने बारह साल भगवान् की तपस्या की। विष्णु भगवान् प्रसन्न हुए, कहा 'वर माँग लो।' उसने कहा 'जी मैं माँगूगा कुछ नहीं। बारह साल की तपस्या का हिसाब से जो फल बनता हो वह दे दो।' भगवान् ने सोचा यह नया ही काम हुआ। पर सोचा इसे समझने का मौका देना चाहिये। उन्होंने कहा 'हिसाब करना है तो लेना-देना दोनों तरफ का करना चाहिये। जो बाकी निकले उसका लेन-देन कर लेंगे। तू बारह साल ज़मीन पर खड़ा रहा। यह ज़मीन तो तेरी है नहीं। यह तो मेरी है। इसका भाड़ा देना पड़ेगा। तूने साँस ली। हवा भी तेरी संपत्ति नहीं, मेरी है। इसका भाड़ा दे। ऐसे ही पानी का।' इस तरह जब गिनाने लगे तब वह भक्त बेचारा घबरा गया और समझ गया कि हिसाब से तो उसे देना ही देना पड़ेगा, मिलेगा कुछ नहीं। तब उसने विनय से प्रार्थना की।

अतः उपाधियों पर मिलकियत है परमात्मा की, हम व्यर्थ ही अपना ठप्पा लगाते हैं और दुःखी होते रहते हैं। इस वृथाभिमान को छोड़ने से ही सारा विश्व परमात्माग्नि में होम दिया जायेगा। तभी अपनी सब विशेषों से विवर्जित स्थिति को जानकर सब विशेषों के साक्षी बनने से हम उस चरम लक्ष्य की स्थिति में पहुँचेंगे जो सद्-असत् नहीं कही जा सकती पर सर्वत्र ही परिपूर्ण रूप से उपस्थित है।

आठ

चरम लक्ष्य का विचार करते हुए भगवान् ने उस ज्ञेय तत्त्व को बताना प्रारंभ किया जिसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने के बाद और कुछ पाना या जानना बाकी नहीं रह जाता। उसके स्वरूप को बतलाते हुए कहा कि दुःखवाद और भोगवाद की विचारधारायें एकांगी हैं। संसार में सुख ही सुख है अतः भोग ही प्रधान है यह एक दृष्टि है और वर्तमान काल में यही प्रधान है। संसार में दुःख ही दुःख है अतः इसका स्वरूपतः त्याग करना चाहिये यह दूसरी दृष्टि है। तीसरी है वैदिक दिव्य दृष्टि जो संसार की वास्तविकता समझने की दृष्टि है। संसार का सचमुच क्या रूप है यह समझ लेने पर उसमें सुखात्मकता और दुःखात्मकता की जगह केवल आनंदघनता रह जाती है। तभी यह समझ आता है कि क्षेत्र द्वारा जो प्रकट हो रहा है वह मृगतृष्णिका की तरह होने से न सच्चा सुख दे सकता है और न सच्चा दुःख। वह तो केवल हमारे अनंतभाव को प्रकट करने का साधनमात्र है, एक माध्यम है जिसके द्वारा यह अनंतता प्रकट हो रही है। यही वेद की दी हुई दिव्य दृष्टि है। इसलिये भगवान् आगे कहते हैं

'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्त्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।'

जैसे छोटे बच्चे को समझाया जाता है वैसे ही भगवान् अत्यंत करुणा और प्रेम से भरकर एक-एक कदम समझा रहे हैं। उस परमेश्वर को कहाँ-कहाँ समझना है? 'बहिः' बाहर। बाहर का मतलब क्या? आचार्य शंकर कहते हैं कि मनुष्य प्रायः अपनी बाहरी चमड़ी तक के शरीर को अज्ञान से समझता है 'यह मैं हूँ'। इस से बाहर की चीज़ को मैं से भिन्न समझता है। यह बात आज विज्ञान से भी सिद्ध हो चुकी है कि हमारे शरीर की परिधि

इस चमड़े में समाप्त नहीं होती, इसके बाहर तक फैली हुई है। ऐसे समझो : मान लो हमारी आँखें वैसा देखने वाली होती जैसा एक्स-रे से दीखता है तो हमें सब शरीर हड्डी तक ही दीखते। साधारण कैमरे से त्वक्पर्यन्त का चित्र आता है क्योंकि उसकी वैसी ही सामर्थ्य है। पर एक्स-रे के चित्र में त्वग् व मांस नहीं आते केवल हड्डियाँ आती हैं। यदि आँख भी वैसी सामर्थ्य वाली होती तो सब के शरीर हड्डियों के ढाँचे ही दीखते। यह मानते रहते कि हमारा शरीर हड्डी तक ही है। यदि तब कोई नये ढंग का कैमरा बनाता और त्वक्पर्यंत का चित्र आता तो कुछ विचित्र लगता, निश्चय बना रहता कि हैं हम हड्डी तक ही। ऐसे ही एक नये ढंग का कैमरा बना है, किलोक्स कैमरा, जो हमारे शरीर से बाहर जो किरण पुंज निकलते हैं उनका चित्र ले लेता है ताकि त्वक् से बाहर तीन-चार इंच की आभा का चित्र आता है। चमड़े वाला हिस्सा आता नहीं। उस कैमरे की दृष्टि में शरीर का बाहरी हिस्सा वह आभा ही है। मनुष्य की कई बीमारियों का निदान करने के लिये अब उसका प्रयोग होने लगा है। जैसे भीतरी चीज़ जानने के लिये एक्स-रे का प्रयोग होता है वैसे बाहर की चीज़ जानने के लिये उस कैमरे का प्रयोग होता है। शरीर में बीमारी प्रकट होने के पहले बाहर के हिस्से में वह प्रकट हो जाती है। अतः अनेक रोगों का निदान संभव हो जाता है। जब वह कैमरा बना तो उसका परीक्षण करने एक वैज्ञानिक दल एक ही वृक्ष के सर्वथा एक जैसे दो पत्ते ले गया चित्र खिंचवाने के लिये। कैमरे वाले से चित्र लेने को कहा। एक पत्ते के चित्र में पूर्ण तेज था जबकि दूसरे में तेज बिल्कुल क्षीण था। कैमरे वाले घबरा गये, बार-बार चित्र लेने लगे यह सोचकर कि समान पत्तों का चित्र समान ही आना चाहिये। वैज्ञानिक दल वालों ने पूछा कि देर क्यों हो रही थी। कैमरे वालों ने सच्ची बात बताई 'दोनों पत्तों के चित्र एक जैसे नहीं आ रहे, लगता है कैमरे में कोई खराबी आ गयी है।' वैज्ञानिकों ने चित्र मँगवाये और कहा 'तुम्हारा कैमरा ठीक है। हमने एक साथ एक ही पेड़ से इन पत्तों को तोड़ा ज़रूर परंतु तोड़ने के बाद एक पत्ते में जहर डाल दिया जिससे वह मर गया। इसलिये चाहे हमें आँख से फर्क न दीखे, उसकी

आभा में अंतर आ गया जिसे तुम्हारे कैमरे ने ग्रहण कर लिया।' बाद में मनुष्यदेह पर भी प्रयोग हुए । अस्तु। शरीर की परिधि कहाँ तक है इसका निर्णय संभव नहीं। फिर भी हमारी अविद्या त्वक्पर्यंत देह में ही आत्मभाव लाती है इतना अनुभवानुसार कह सकते हैं। बाहर कहते ही प्रश्न उठता है कहाँ से ? जितने को हमने मैं रूप से मान रखा है, जहाँ तक हमें मैं की प्रतीति है उतने हिस्से से बाहर, यही सर्वसाधारण रूप से समझ सकते हैं। इस शरीर से बाहर जो कुछ है वह ज्ञेय है, ब्रह्म है। 'अन्तश्च' जो कुछ शरीर के अंदर है वह भी वही ज्ञेय परमात्मतत्त्व है। तब शरीर तो कुछ और होगा ? जिस प्रकार नदी में कमण्डलु डालो तो कमण्डलु में जल भर जाता है और बाहर नदी है ही पर बाहर-भीतर जल होने पर भी बीच में कमण्डलु तो है जो जल नहीं है। ऐसे ही भीतर-बाहर ज्ञेय कहने से शंका होती है कि बीच वाला शरीर ज्ञेय नहीं होगा, परमात्मा नहीं होगा। इसलिये कहा 'अचरं चरमेव च।' दो ही प्रकार के शरीर संसार में मिलते हैं—चलने वाले, जैसे मनुष्यादि के और दूसरे नहीं चलने वाले, जैसे पेड़-पौधे। जितने भी चर-अचर शरीर हैं वे सभी वही ज्ञेय है।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार व्यवहार-विषय सब कुछ जब परब्रह्म है तो हमें वह परमात्मस्वरूप क्यों नहीं दीख रहा ? तब कहा कि सूक्ष्म होने से वह समझ में नहीं आता। वह कैसा सूक्ष्म है ? दूर से दूर भी है और पास से पास भी है। ऐसा विचित्र वह तत्त्व है। अतः उसे जानने के लिये हमें विशेष विचार दृष्टि चाहिये। सूक्ष्म वस्तु समझने के लिये अंतःकरण में ठीक प्रकार के संस्कार लाने पड़ते हैं। हम लोग जो शब्द बोलते हैं वे किसी न किसी स्वर में ही होते हैं पर हमें मालूम नहीं पड़ता कि हम किस स्वर में बोल रहे हैं या सामने वाला किस स्वर में बोल रहा है। जिसने संगीत सीखा है वह स्वर पहचान सकता है। स्वर सुनने के लिये कोई नया कान नहीं लगाना पड़ता, कान यही सुनेगा, पर तब जब हमारा अंतःकरण स्वरज्ञान से संस्कार वाला हो जायेगा। अन्यथा सुनते हुए भी हमें स्वर कौन सा है यह सुनाई नहीं देगा। ऐसे ही सभी सूक्ष्म वस्तुओं को समझने के लिये संस्कार चाहिये। सूक्ष्म क्या स्थूल वस्तुओं

को समझने के लिये भी अनुकूल संस्कार अपेक्षित हैं। लोग भोजन कर आते हैं, पूछो तो कहते हैं 'दाल और साग बने थे।' आगे पूछो 'दाल कौन सी थी ? साग कौन सा था ?' तो कहेंगे 'जी ध्यान नहीं दिया !' स्वाद समझने वाले की जीभ यही रहती है केवल संस्कारवश बैंगन और तोरी को, मूंग और मसूर को खाते ही पहचान लेता है। इसी तरह उस परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान किसी नयी आँख से किन्ही नयी इंद्रियों से नहीं हो जाना है, इन्ही से होते हुए तुम उसे पहचान सकोगे। इसलिये कहा 'दूरस्थम्' जब तक उसकी पहचान नहीं तब तक समझते हो बहुत दूर है। पहचान होते ही पता लगेगा अत्यंत पास में है।

सत्ययुग के अंतिम भाग में सत्यव्रत ग्राम में बृहत्तपा नामक ब्रह्मनिष्ठ महात्मा आये। वहाँ एक दीर्घतमा नामक जन्मांध ब्राह्मण रहता था। उसने महात्मा से अपने कल्याण का उपाय पूछा। बृहत्तपा महर्षि उसे परमात्मा के विषय में सुनाने लगे। सौ वर्ष तक वे सुनाते ही चले गये। सत्यव्रत गाँव गंगाजी से कुल दो कोस, सात किलोमीटर दूर था। पुण्यधामा नामक ब्राह्मण कथा आदि की सारी व्यवस्था किया करते थे। कथा तो सुनते ही थे। आने-जाने वालों की रहने-खाने की व्यवस्था भी वहाँ की जाती। यों सौ वर्षों तक सेवा करते हुए कथा सुनते और उस पर विचार करते रहे। इस व्यस्तता से उन्हे न गंगास्नान का स्मरण ही आया और न वे गंगास्नान के लिये गये ही।

सौ वर्ष पूरे हुए तो उधर से धृतव्रत और ज्ञान-सिंधु नामक तीर्थ-यात्री निकले। उस काल में होटलों की व्यवस्था तो थी नहीं, धर्मशालाओं में रहा करते थे। उस गाँव में पहुँचे तो लोगों ने बताया 'दीर्घतमा के यहां चले जाओ, रहने-खाने की सारी व्यवस्था है।' वे दोनों वहाँ गये। पुण्यधामा ने सारी व्यवस्था कर दी। प्रसन्न होकर उन्होंने पूछा 'यहाँ से गंगा जी कितनी दूर है ?' पुण्यधामा बोला 'जी सौ वर्षों से मैं इस व्यवस्था में व्यस्त हूँ इसलिये गंगा जी जाने की न मुझे याद आयी, न मैंने किसी से पता लगाया। सुना है यहाँ से दो कोस पर हैं।' तीर्थ यात्रियों ने विचार

किया—अरे, ये लोग तो महानास्तिक लगते हैं, पापी हैं। गंगाजी के इतना पास रहकर कभी स्नान करने नहीं गये। इनके यहाँ रहना ठीक नहीं। इसलिये उनका निरादर कर वे दोनों वहाँ से चल दिये।

किन्तु जब गंगा जी पहुँचे तो देखा कि गंगा जी में जल नहीं है ! धीर-धीरे गंगासागर तक चले गये पर कहीं उन्हे गंगा जी मिली नहीं। फिर गंगोत्तरी तक चले गये लेकिन गंगा जी मिली नहीं। अंततोगत्त्वा उन्होंने विचार किया—ज़रूर हमसे कोई दोष हुआ है क्योंकि कलियुग के मध्य में तो गंगा जी पृथ्वीलोक छोड़ देंगी पर अभी तो सत्ययुग ही समाप्त हो रहा है। गंगा जी ने तो भूलोक छोड़ा नहीं, हमारी ही कोई भूल है। काशी जाकर उन्होंने गंगा जी से प्रार्थना की। गंगा जी बोली 'मेरे परमभक्तों का तुमने अनादर किया। इसी से में रुष्ट हो गयी हूँ। उन्हीं से जाकर क्षमा माँगो। वे क्षमा करेंगे तभी मेरी प्राप्ति होगी।'

वे दोनों सत्यव्रत लौटे। पुण्यधामा से क्षमा माँगी। उसने कहा 'मेरे मन में कुछ नहीं। हमारे गुरु जी बृहत्तपा के पास चलो। वे ही गंगादर्शन का उपाय बतायेंगे।' बृहत्तपा ने कहा 'मैंने एक सौ एक वर्षों का संकल्प लिया था। वह समय पूरा होने तक यहाँ रहो, ज्ञेय तत्त्व समझो। फिर हम सब गंगास्नान करने चलेंगे।' उन दोनों ने ऐसा ही किया। जब वे सब गंगाजी पहुँचे तो निर्मल गंगा का दर्शन हुआ। स्नान कर सभी कृतकृत्य हो गये।

गंगा जी अत्यंत समीप थी, पर गंगासागर से गंगोत्तरी तक घूम आने पर भी मिली नहीं !

यह केवल एक बृहत्तपा की कथा मत समझ लेना। कहाँ पर परमात्मा की कथा होती है ? सत्यव्रत गाँव में; जिन लोगों ने सत्य का व्रत लिया है, जो कभी सत्य नहीं छोड़ते वे ही इस ज्ञेय तत्त्व को सुन सकते हैं। चाहे जहाँ इसकी कथा होती ही नहीं। आचार्य शंकर लिखते हैं 'प्राणात्ययेपि ये सत्यं न त्यजन्ति तेषामेवैषा ब्रह्मविद्या।' प्राण छूटने की परिस्थिति में भी जो झूठ का सहारा नहीं लेता वही इस ब्रह्मविद्या को पा सकता है। वह परमात्मा सत्यरूप है। बहुत से लोग दूकान करते हैं। पास

ही दूसरी दूकान होती है। दूसरी दूकान वाला तो करोड़पति बन जाता है पर एक वे हैं जो पचास साल दूकानदारी कर भी जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। क्यों ? जो आये हुए प्रत्येक धन को मूल्यवान् समझता है, सापेक्ष धन के मूल्य को समझता है, सीमित धन की कीमत करता है, वह तो धीरे-धीरे धनपति हो जाता है। व्यापार का आधार ही है कि पहले कुछ धनसंचय हो जाये तब फिर अत्यधिक वृद्धि संभव है, पहला संचय ही कठिन होता है। जिसने सापेक्ष धन को मूल्यवान् समझा, उसे एकत्र किया, वह तो अंत में बड़ा उद्योग बैठाने लायक हो गया, करोड़पति हो गया। जो यह सोचता रहा कि दस-बीस रुपयों से होना क्या है ! इसलिये जो सापेक्ष धन आया उसे निरर्थक कार्यों में खर्च करता रहा, वह मूल पूंजी बना नहीं पाया तो बड़ा उद्योग हो कैसे ? ऐसे ही व्यवहार में जो सत्य का आचरण है, सत्य बोलना है, वह परिच्छिन्न सीमित सत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं है। लोग कई बार प्रश्न करते हैं कि जब संसार मिथ्या है तब जो हम झूठ बोले वह भी तो मिथ्या है, फिर झूठ बोलने में क्या दोष ? पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से वह सत्य ही है। इसीलिये शास्त्रकारों ने व्यावहारिक के लिये एक शब्द बनाया है 'लौकिक पारमार्थिक'। परमात्मज्ञान होने तक वह लगभग पारमार्थिक ही है। अतः बोले जाने वाले को सीमित सत्य कह सकते हैं, निरपेक्ष न सही। यदि सीमित सत्य को तुम नहीं संभाल सकते तो पारमार्थिक सत्य तुम्हें प्राप्त हो कैसे सकता है ? सीमित सत्य पर स्थिर रहोगे तभी न पारमार्थिक भी प्राप्त हो सकेगा। इसी से आचार्यों ने कहा कि मर जाने पर भी जो झूठ का आश्रयण नहीं लेता वह ब्रह्मविद्या के योग्य होता है। इसलिये सत्य का व्रत लेने वाला जो गाँव उसी में परमात्मकथा सुनाई जाती है, सुनाई जाने पर सफल हो सकती है।

सुनाने वाला कौन है ? बृहत्तपा। ज्ञान को सबसे बृहत्—बड़ा—तप माना गया है। जिसने परमात्मा का साक्षाद् अनुभव किया और उसी पर निष्ठा वाला है वही बृहत्तपा है, बड़ा तप करने वाला है। चूँकि उसने परमात्मा का साक्षात्कार किया है इसलिये वह कथा परमात्मा की ही

सुनायेगा। मनुष्य जो खाता है उसका पता लग जाता है गंध से जो तब आती है जब वह बोलता है। मूली खायेगा तो मूली की गंध आयेगी, हींग खायेगा तो उसकी। ऐसे ही जिस व्यक्ति ने जिस वस्तु का खूब चर्वण कर लिया है, जिससे तृप्ति प्राप्त कर गया है, वह जब बोलेगा तो वही विषय उसके मुँह से निकलेगा क्योंकि उसने उसे स्वयं में स्थिर कर लिया है। रेल में लोगों की बातें सुनो तो यह स्पष्ट हो जाता है। कपड़े के व्यापारी होंगे तो थोड़ी देर में ही कपड़े की बातचीत होने लगेगी। कई बार लोग आते हैं, सत्संग सुनते हैं। फिर आपस में बात करने लगते हैं और रात-दिन वाली सामान्य बातें ही करने लगते हैं, सत्संग वाली बात से कोई मतलब नहीं। कोई वकील निकल आया तो वकालत की राय लेने लगेंगे, डाक्टर निकल आया तो झट कोई दवा पूछने लगेंगे! जो भीतर है वह मौका पाते ही बाहर आ जाता है। बृहत्तपा के भीतर परमात्मा होने से उसी की वह बात करता है। वे महावाक्य ही सुनायेंगे।

सुना किसे रहे हैं ? दीर्घतमा को। अनादिकाल से जो अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ है, वही जन्म से अंधा है। ऐसा नहीं है कि पहले यह ब्रह्मस्वरूप को जानता था और फिर कभी इस पर अज्ञान आ गया हो। अज्ञान अनादि है। भगवान् ने भी बताया 'विद्ध्यनादी उभावपि'। मनुष्य की पूर्ण आयु शास्त्रों के हिसाब से सौ साल है। सौ वर्ष कथा सुनाने का अभिप्राय है कि जब तक ज्ञान न हो जाये, तब तक जीवनभर इसी तत्त्व का श्रवण करना है। आचार्य शंकर से किसी ने पूछा 'जो अद्वितीय आत्मतत्त्व आप बता रहे हैं वह कठिन है, यदि हमारी समझ में नहीं आया तो आप क्या करेंगे ?' बोले 'फिर समझाऊँगा'। पूछा 'फिर समझ न आया तो ?' बोले 'फिर समझाऊँगा'। उससे पुनः पूछा 'इतने पर भी न समझा तो ?' आचार्य बोले 'जब तक हममें से कोई मर न जाये या जब तक तुम समझ न जाओ, मैं समझाता ही रहूँगा।' यह है सनातन धर्म की परंपरा। दूसरे धर्म वाले डण्डा दिखाते हैं। 'मुस्लिम मत समझ में न आया तो ?' 'तलवार से सिर काट देंगे।' 'ईसाई मत न जँचा तो ?' 'मुफ़्त में जो दवाइयाँ व शिक्षा दे रहे हैं इन्हे बंद कर देंगे।' पर सनातन धर्म कहता है समझाने

का काम समझाने से ही होगा। मुसलमानों के प्रभाव से आजकल पाठशालाओं में समझ न आने पर बच्चों के कान उमेठते हैं, थप्पड़ मारते हैं। इससे समझ कैसे आयेगा ? फौज के जवानों को भी कुछ शिक्षा दी जाती है। एक बार भूगोल पढ़ाया जा रहा था। उसमें आया कि पृथ्वी गोल होती है। प्रसिद्ध ढंग से नक्शे आदि से अध्यापक ने समझाया। फिर सब से पूछा 'समझ में आया कि नहीं ?' एक जवान ने कहा 'जी बचपन से एक-सी सीधी दीख रही है, न हम लुढ़कते हैं; कैसे मानें कि पृथ्वी गोल है ?' अध्यापक ने सारी बातें दुहरा दी। पर जवान ने कहा कि जब आँख से ज़मीन सीधी दीख रही है तब नक्शा देखकर कैसे समझें कि गोल है ? अध्यापक ने झल्ला कर कहा 'अरे कर्नल साहब का हुक्म है कि पृथ्वी गोल है !' जवान ने तुरंत स्वीकार किया 'जी साहब।' हुक्म है तब तो मानना ही हुआ। पर यह समझना नहीं है। जब तक चीज़ बुद्धिगम्य न होगी, चिंतन के तरीके में आत्मसात् न होगी तब तक समझने-समझाने का काम पूरा होता नहीं। इसलिये सौ वर्ष तक अर्थात् यावज्जीवन बृहत्तमा समझाते रहे।

पुण्यधामा सेवारत रहे। पुण्यों का जो घर हो वह पुण्यधामा। जहाँ चित्त शुद्ध होता है वहीं पुण्यों का धाम है। सारे पुण्यों का अंतिम नतीजा क्या होना है ? चित्तशुद्धि। शुद्धचित्त वाला व्यक्ति ही वस्तुतः श्रवण की व्यवस्था कर पाता है।

घूमते हुए वहाँ धृतव्रत और ज्ञानसिंधु पहुँचे। जिन्होंने किसी न किसी नियम को पकड़ रखा है, वे हैं धृतव्रत। कर्ममार्गी तरह-तरह के नियम पकड़े रहते हैं। धृतव्रत कर्म को ही सब कुछ समझता है। ज्ञानसिंधु वह है जिसने बहुत शास्त्र पढ़े हैं पर फिर भी किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा, शास्त्रानुसार अपरोक्ष अनुभव वाला नहीं हुआ। कई लोग चलते-फिरते विश्वकोश होते हैं। दुनियाभर की बातें बता देंगे। पर उनसे पूछो 'तुम कहाँ पहुँचे ?' कहेंगे 'कहीं नहीं पहुँचे।' कुछ लोग भोजन करते हैं शरीर पुष्ट करने के लिये; इतना खाते हैं जिससे शरीर पुष्ट होवे। बहुत से लोग शरीर पुष्ट हो इसलिये न खाकर ज़्यादा खाने के लिये ही खाते हैं ! तुर्क

देश में भोजन के मध्य एक पेयविशेष देते हैं जिसे पीने से वमन हो जाता है। कोई पदार्थ बहुत स्वादिष्ट लगा हो, और खाने की इच्छा हो पर पेट भर गया हो तो उसे पीकर वमन करो और फिर खा लो ! ऐसे लोगों का खाया हुआ उनके किसी काम का नहीं। खा चाहे जितना लें। ठीक इसी प्रकार बहुत से लोग बिना पचाये हुए दुनियाभर की बातें इकट्ठी करते रहते हैं।

इस तरह के लोग गंगा की अर्थात् तृप्ति की जिज्ञासा करते हैं। गंगाशब्द गम्धातु से बनता है। निरंतर बहने वाली गंगा है। गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं। अत एव आचार्यों ने कहा है 'त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगंगा' ज्ञान गंगा; सारे ब्रह्माण्ड के उत्पादक अधिष्ठान तत्त्व का ज्ञान ही वास्तविक गंगा है। उसी से तृप्ति होगी। पुण्यधामा ने कहा 'तृप्ति है तो बहुत पास लेकिन अभी हम वहाँ पहुँच नहीं पाये। हम प्रयास कर रहे हैं पर अभी अपरोक्ष अनुभव नहीं हुआ है।' उन दोनों ने सोचा कि कहीं जाने से ही तृप्ति हो जाती होगी। पर सब जगह घूमकर भी तृप्ति हुई नहीं। अंत में लौटकर बृहत्तपा से परमात्मतत्त्व के विषय में श्रवण कर समझा तभी तृप्ति हुई।

इसीलिये भगवान् ने भी कहा कि सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय है। है चारों तरफ फैला हुआ पर फिर भी विज्ञेय हो नहीं रहा। कबीरदास जी कहते हैं 'जल-बिच मीन पियासी' पानी में जैसे मछली प्यास से मर रही हो। वैसे ही हमारी स्थिति है। हमारे अंदर-बाहर चारों तरफ आनन्द ही आनन्द है पर ग़ैर-समझी से हम उसी आनंद के लिये निरंतर छटपटा रहे हैं। अत्यंत समीप भी वह तृप्ति अत्यन्त दूर है। यह तृप्ति ज्ञेयसाक्षात्कार से ही होनी है।

नौ

जिसे पाकर कुछ पाना बच नहीं जाता उस चरम लक्ष्य का विचार कर रहे हैं। उस ज्ञेय तत्त्व का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं

'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।'

यद्यपि वह परमात्मदेव प्रत्यगात्मा हमेशा ही स्वरूप से बँटता नहीं। अविभक्त रहते हुए, बिना बँटे ही शरीरों के कारण बँटे हुए की तरह लगता है। जैसे आकाश एक अखण्ड रहते हुए ही घड़े में घटाकाश, सिकोरे में सिकोराकाश यों बँटा हुआ लगता है। पर ऐसा नहीं कि आकाश का कोई टुकड़ा घड़े में घुस जाता हो। घड़े के कारण लगता है, पर है आकाश एक ही। ठीक इसी प्रकार एक ही चेतन सर्वत्र विद्यमान है। शरीर अलग-अलग होने से लगता है मानो अलग-अलग चेतन होवें। पर है एक ही अखण्ड। शरीरों के कारण उसमें कोई फर्क आता नहीं। चूँकि हमारी नज़र शरीरों की तरफ है इसलिये हमें लगता है कि प्रत्येक शरीर के साथ चेतन अलग-अलग है। पर चेतन अलग-अलग नहीं। यही चेतन परब्रह्म परमात्मदेव इन सब शरीरों को उत्पन्न करने वाला है, इसी से लगता है मानो शरीर वाला चेतन उत्पन्न हुआ। ऐसे ही उन सब का भरण करता है तो लगता है हर-एक में अलग-अलग है। अंत में सब को ग्रस्त कर लेता है, कवलित कर लेता है, अपने में लीन कर लेता है। यह सब होते हुए वह वैसा ही एक अखण्ड बना रहता है। जिस प्रकार पृथ्वी पर बरसात में घास व पौधे उग आते हैं। वे ज़मीन से उगे हैं, उस धरती में ही लीन हो जाते हैं। अतः धरती से अलग इनकी कोई सत्ता है नहीं।

इस प्रकरण में पहले भगवान् ने प्रतिज्ञा की ज्ञेय को बताने की। फिर ज्ञेय बताया। यहाँ ज्ञेय-शब्द की पुनरावृत्ति की 'तज्ज्ञेयम्'। बीच में अलग से ज्ञेय कहा नहीं। सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला जो परमात्मा का रूप है वह परमेश्वर का विशेष लक्षण है। महर्षि भृगु जब वरुण से परब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं तब वरुण ने यही उपदेश दिया 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' जिससे यह सारा संसार पैदा होता है, जिससे यह जीवित रहता है व जिसमें लीन हो जाता है, वही ब्रह्म है। ब्रह्मसूत्रों में भी ब्रह्म का लक्षण भगवान् बादरायण ने बताया 'जन्माद्यस्य यतः' जिस एकमात्र कारण से समग्र जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय होते हैं वह ब्रह्म है। यहाँ भी भगवान् ने ज्ञेयपद की आवृत्ति से यही विशेष बात समझा दी। इसका निरंतर चिन्तन हर पदार्थ के उत्पत्त्यादि को उसी से समझने से हो सकता है। जो उत्पन्न हो रहा है वह उसी से, स्थित है तो उसी से, लीन हो रहा है तो उसी में। रात-दिन याद रखने की चीज़ है कि एकमात्र उस के सिवाय कोई व कुछ और नहीं जिससे संसार की उत्पत्त्यादि होते हों। इस बात को याद कैसे रखें ?

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।'

उक्त बात याद रखने का उपाय बताया। यह परतत्त्व ज्योतियों का ज्योति है। मतलब क्या ? आचार्य शंकर कहते हैं कि सूर्य से पदार्थों का तो भान होता है पर सूर्य तो सूर्य के प्रकाश से नहीं दीखता। घड़ा आदि देखने के लिये तो सूर्य की रोशनी की ज़रूरत है। पर सूर्य की रोशनी देखने के लिये सूर्य की रोशनी काम नहीं देती, आँख की रोशनी चाहिये। अंधे को ज्येष्ठ में मध्याह्न में भी सूर्य नहीं दीखता। सूर्य की प्रतीति सूर्य से नहीं आंख से होगी। इससे पता लगता है कि जो जिस जाति का पदार्थ है उसे देखने के लिये उससे भिन्न जाति के प्रकाश की ज़रूरत पड़ती है। सूर्य का जड प्रकाश जानने के लिये आँख का प्रकाश चाहिये। आँख का प्रकाश जानने के लिये मन का प्रकाश चाहिये। आँख की परीक्षा कराने डाक्टर के पास जाओ तो क्या करता है ? तुम्हारी आँख के सामने काँच

रखकर पूछता है 'कैसा दीखता है ?' अगर कहो 'मैं क्यों बताऊँ ? फीस तुम लोगो, तुम्ही बताओ।' तो क्या तुम्हारी परीक्षा हो पायेगी ? तुम्हारी आँख की रोशनी वह अपनी आँख की रोशनी से नहीं देख सकता। आँख की रोशनी देखने के लिये मन की रोशनी चाहिये। हमारा मन हमारी आँख की रोशनी पहचानता है। आगे मन को जानने के लिये किस की रोशनी चाहिये ? मन को जानते हो। कहते हो 'प्रातःकाल एक घण्टा ध्यान करने बैठा पर मन इधर-उधर दौड़ता रहा, बिल्कुल लगा नहीं।' मन ध्यान में नहीं बैठा इस बात को किसने जाना ? तुमने जाना। मन को जानने के लिये तुम्हारे प्रकाश की ज़रूरत है। पर तुम अपने आप को जानो इसके लिये किसी दूसरी रोशनी की ज़रूरत नहीं। इसीलिये कहा सारी रोशनियों की अंतिम रोशनी प्रत्यगात्मा तुम हो।

उस परम प्रकाश में कभी भी अंधकार नहीं आता 'तमसः परमुच्यते'। 'मैं अपने को नहीं जानता' ऐसा कभी नहीं होता। घोर से घोर अँधेरे में बैठे हो, अंधे हो, पागल भी हो, फिर भी जानोगे 'मैं हूँ'। मन समेत कोई दूसरी रोशनी न हो, 'मैं हूँ' यह तो जानोगे ही। यह जो ज्ञानप्रकाश है इससे ही सब उत्पन्न होता है, इसमें ही स्थित होता है, इसी में सब लीन होता है। कुछ उत्पन्न होता है तो भी ज्ञान है, यह जाना ही जाता है कि वह उत्पन्न हुआ। कोई चीज़ स्थित है, पुष्ट हो रही है, यह भी ज्ञान है। कुछ नष्ट हुआ तो उसका भी ज्ञान ही है। ज्ञान में यह याद रखना चाहिये कि सामान्यतः जब ज्ञान होता है तब दो चीज़ें होती है—बुद्धि की सहायता से ज्ञान होता है और बुद्धि का जो प्रकाशक है उसका ज्ञान होता है। प्रायः मनुष्य उसे ही ज्ञान समझ लेता है जो ज्ञान बुद्धि से होता है। इसलिये आचार्यों ने बताया

'बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेका
प्रत्यग्बोधे ज्ञानता काचिदन्या।'

बुद्धि की वृत्ति को जब तुम जानते हो, उसको भी ज्ञान कहते हैं। साधारण भाषा में जब कहते हैं 'यह आदमी बड़ा ज्ञानी है' तब तात्पर्य होता है

कि इसकी बुद्धि में बहुत सी वृत्तियाँ हैं, इसने बुद्धि से बहुतेरी चीज़ें जानी हैं। जब कहते हो 'यह ज्ञानी है' तब उसके आत्मा के ज्ञान को लेकर नहीं कहते, वह तो सब जगह एक जैसा है। बुद्धि की वृत्ति में एक ज्ञानता है जबकि जो अपना ज्ञान है, प्रत्यग्ज्ञान है उसकी ज्ञानता कुछ और ही है। यह है स्वप्रकाशरूपता और बुद्धि में केवल ज्ञान की अभिव्यंजकता है। ऐसे समझो : लोक में कहते हैं 'यह हीरा बड़ा तेजस्वी है', और यह भी कहते हैं 'यह रोशनी बड़ी तेज है'। दोनों तेजों में फर्क है। हीरे में तेज है का मतलब है कि वह रोशनी को ज़्यादा मात्रा में लेकर उसे प्रतिबिम्बित करता है। ऐसा नहीं कि अँधेरे में हीरे की अंगूठी से रास्ता दीख जाये ! उसकी इतनी ही तेजस्विता है कि रोशनी अधिक मात्रा में लेकर प्रतिबिम्बित करता है जिससे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा वह ज़्यादा जगमगाता है; पर तभी जब रोशनी हो। जबकि रोशनी का प्रकाश निजी है, किसी-दूसरे के कारण नहीं है। ऐसे ही बुद्धि में जो जगमगाहट है वह इससे है कि वह आत्मा की रोशनी ज़्यादा मात्रा में लेकर प्रकाशित कर सकती है। आत्मतत्त्व की तो निजी रोशनी है। बुद्धि को इतनी बड़ी प्रशंसा मिलती है, उसे भी ज्ञान कह दिया जाता है, इसका कारण है। बुद्धि परमात्मा को विषय करने में समर्थ होने से जीव का कल्याण कर सकती है। यह उसकी विशेषता है। आचार्य शंकर मन की विशेषता समझाने के लिये उसके देवता चन्द्रमा द्वारा कहलवाते हैं

'वक्राकारः कलंकी जडतनुरहमप्यंघ्रिसेवानुभावाद्
उत्तंसत्वं प्रयातः सुलभतरघृणास्यन्दिनश्चन्द्रमौलेः।
तत्सेवन्तां जनौघाः शिवमिति निजयावस्थयैव ब्रुवाणं
वन्दे देवस्य शम्भोर्मुकुटसुघटितं मुग्धपीयूषभानुम्।।'

मैं टेढ़ा हूँ। टेढ़ी चीज़ बुरी मानी जाती है। कलंकी हूँ, मुझ पर कलंक लगा है, चंद्रबिम्ब के बीच में काला दाग होता है। वैसे भी सत्ताइस पत्नियों में केवल रोहिणी के प्रति पक्षपाती था, यह उस पर कलंक लगा था। जड हूँ, शरीर जड ही है। वर्तमान काल में भी लोग चंद्र को जड ही कहते

हैं। वहाँ इन्हे चेतन कुछ नहीं मिला, पत्थर ही उठाकर लाये। ये तीनों दुर्गुण वाला भी मैं भगवान् शंकर के चरणों की सेवा से ऊँचा हो गया हूँ। भगवान् सारे संसार से ऊपर हैं, उन्होंने मुझे अपने भी ऊपर मुकुट पर रख लिया ! पर यह मेरी विशेषता नहीं है, भगवान् शंकर में दया इतनी ज़्यादा है कि जो उनके चरणों में जाये वह जैसा भी हो उसे वे श्रेष्ठ बना देते हैं। यह बात चंद्रमा को कहनी नहीं पड़ती। भगवान् के मुकुट में होने से ही वह यह संदेश दे देता है कि हे प्राणियो ! उस शिव का ही आप लोग सेवन करें। मेरी अवस्था से ही समझ लो।

चन्द्रमा से मन ही समझना क्योंकि वही उसका अभिमानी है, समष्टि हैं। मन कैसा है ? कुटिल है, यह अपने को प्रत्यक्ष है। हमेशा कुटिलता सोचता है। कोई अच्छी बात भी कहे तो भी मन में आता है 'इसका मतलब कुछ और होगा !' कलंकी भी है। दुनियाभर की वासनाओं का कलंक यह स्वयं पर लगाता ही रहता है। पांचभौतिक है, जड है। पर यह भी जब भगवान् शंकर का चिंतन करता है तो अंततोगत्त्वा ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर श्रेष्ठता पा लेता है। कहा जाता है कि जीव को मोक्ष देने वाला मन ही तो है ! परमेश्वर का सेवन करने से इसकी यह स्थिति बन जाती है। इसीलिये यहाँ भगवान् ने कहा कि ज्योतियों के ज्योतीरूप शिव का जब हम मन से चिंतन करते हैं तो कल्याण पा लेते हैं। वह शिव ही प्रत्यगात्मा है। जड वस्तुओं के चिंतन से बंधन में दृढ होते जाते हैं।

इसका अनुभव है कहाँ ? ज्ञानसाधन, ज्ञेय और जब वृत्ति बनकर साक्षाद् अनुभव होता है—ज्ञेय ही जब ज्ञात हो जाता है तब उसे ज्ञानगम्य कहते हैं—ये तीनों हुए 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'। प्रारंभ में ही बताया था अज्ञात, ज्ञेय और ज्ञात ब्रह्म का विचार। जब तक परमात्मा के विषय में हमें कोई चेतना है ही नहीं तब तक यह संसार अज्ञात ब्रह्म है। जब हम साधक बनकर साधना में लगे तब हम उस ब्रह्म को जानना चाहते हैं तब यह सारा संसार ज्ञेय ब्रह्म है। जब हमें उसका साक्षात्कार हो जाता है तब वही ज्ञानगम्य है। ये सब सबके हृदय में ही स्थिर हैं 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'।

'इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।'

इस प्रकार भगवान् ने पहले ज्ञान का निरूपण किया फिर संक्षेप में ज्ञेय का निरूपण किया। बतला तो दिया, लेकिन यह ज्ञानगम्य किसे होगा ? अनुभव में परिणत कब होगा ? तब कहा 'मद्भक्तः' जो परमेश्वर से अनुपम प्रेम करेगा वही इसका साक्षाद् अनुभव कर सकेगा। अनुभव होने पर वह मेरा ही स्वरूप होगा। परमात्मा के लिये असीम प्रेम मोक्ष का साधन बतलाया।

कश्मीर में पामपुर ग्राम के आस-पास केसर की खेती होती है। वहाँ प्रायः साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व एक कन्या उत्पन्न हुई पद्मा। मुस्लिम राज्य था। राजनैतिक उथल-पुथल थी। कन्या ब्राह्मण के घर पैदा हुई थी। उस युग में ब्याह छोटी उम्र में कर दिया जाता था। बारह साल की थी तब उस लड़की का ब्याह हो गया। ससुराल गयी तो वहाँ उसकी सास सौतेली थी, पति की अपनी माँ मर चुकी थी, सौतेली माँ थी। सास को इस लड़की के प्रति कोई सद्भाव न था। हमेशा इसे क्लेश ही देती रहती थी। फिर भी यह शिकायत करती नहीं थी। अन्यों को मालूम न पड़े इसलिये सास जब बहू को भोजन परोसती थी तो पहले एक पत्थर रख कर उसे भात से ढाँक देती थी। घर में सब समझें कि बहू बहुत खाती है। उन्हे क्या पता कि उसके अंदर पत्थर है ! पर वह चुपचाप सहती रही। यह तपस्या जीवन में आवश्यक है। जो व्यक्ति हमेशा परिस्थितियों को बदलने में लगा रहता है उसका सारा ध्यान उसी ओर चला जाता है। जो तो परिस्थिति सहन करने का अभ्यास डालता है वही किसी उच्च उपलब्धि को कर सकता है। इसलिये उस स्त्री को किसी पर क्रोध भी नहीं आता था, किसी से शिकायत भी नहीं थी।

संसार में अनेक सुधारवादी गतिविधियाँ हुईं, चाहे भारत में चाहे अन्यत्र, लेकिन जितने सुधारवादी हुए हैं वे कभी परमात्मा के साक्षात्कार के रास्ते पर नहीं जा पाये। वे केवल सुधार में लगे रहे और वह सुधार अंत में बिगाड़ ही सिद्ध हुआ। ये दोनों मार्ग अलग हैं। संसार में जो

हेय-उपादेय बुद्धि रखेगा वह अहेय-अनुपादेय ब्रह्मतत्त्व को कभी पा नहीं सकता। जो अहेय-अनुपादेय परमार्थतत्त्व को पकड़ना चाहता है वह हेय-उपादेय दृष्टि कर नहीं सकता। इसीलिये सभी प्राचीन परंपराओं में परमात्मसम्बन्धी अनुभवादि आते हैं पर सुधारवादी परंपराओं में ऐसा कुछ नहीं होता।

एक बार शिवरात्रि के पर्व पर पद्मा बर्तन माँजने वितस्ता के तट पर गयी हुई थी। कश्मीर में शिवरात्रि बड़ी धूम-धाम से मनाते हैं। वितस्ता को ही उर्दू वाले झेलम कहते हैं। वहीं कोई पड़ोसन भी आयी थी। पड़ोसन ने कहा 'आज तो शिवरात्रि है, तेरी पाँचों अंगुलियां घी में होंगी ?' पद्मा दुःखी तो थी ही, बोली 'शिवरात्रि हो चाहे न हो, मेरी तो शालग्राम की बटिया भली !' पड़ोसन ने पूछा 'क्या मतलब ?' उसने सारा किस्सा सुना दिया। जहाँ ये बातें चल रही थी उसके पास ही आदमियों का घाट था, वहाँ ससुर खड़े थे। उन्होंने सारी बातें सुन ली। घर आकर उन्होंने सास को बहुत डाँटा। पर फल उल्टा निकला। सास और ज्यादा अत्याचार करने लगी। लड़के को सिखाने लगी 'पद्मा डाकिनी है। रात में सिंह पर बैठ कर जाती है, लोगों को खाकर आती है।' इत्यादि। पद्मा का धैर्य टूट गया। उसने असीम से मिलने का ही निश्चय किया।

घर छोड़कर चल दी। विभिन्न ग्रामों में शिवमंदिरों में दर्शन करना, महेश्वर की कीर्ति का गान करना, महादेव का ध्यान-पूजन करना, यही उसकी चर्या थी। भगवान् शंकर का उसे दर्शन हुआ। उसे तुरंत समझ आ गया कि सारा संसार प्रकृति का ही खेल है। जब प्रकृति का ही खेल है तो इसमें शर्म किसकी करनी है ? उसने वस्त्र पहनना छोड़ दिया, दिगंबर घूमने लगी। भोजन की भी चिंता न करे। किसी ने जबर्दस्ती मुँह में डाल दिया तो खा लिया, नहीं तो नहीं। छेड़ने वाले कई बार पूछते थे 'अरे नंगी क्यों घूमती है ?, हँसकर पद्मा बोलती थी 'संसार में कोई पुरुष तो है ही नहीं ! प्रकृति से बनी सारी शकलें औरत ही हैं। औरत के सामने औरत क्या कपड़ा पहने ?' लोग उसका तात्पर्य क्या समझें। वे केवल

हँसते थे। परमात्मा के कालातीत विश्वाधिक रूप का साक्षात्कार करना ही उसे बाकी रह गया था।

दक्षिण भारत में उस समय विश्वेन्द्र सागर नामक एक ब्रह्मनिष्ठ महात्मा थे। उन्हें भगवान् ने प्रेरणा दी कि कश्मीर में स्थित उस योग्य शिष्य को उपदेश करो। जब हममें योग्यता आ जाती है तब भगवान् स्वयं उपदेश की व्यवस्था कर देते हैं, गुरु की प्राप्ति हो जाती है। गुरु ढूँढने से नहीं मिला करते। कारण यह है कि गुरु कौन है इसकी परीक्षा तुम कैसे कर सकते हो ? गुरु ही शिष्य को ढूँढ लेता है। विश्वेन्द्र सागर कश्मीर पहुँचे। उन्हे देखते ही पद्मा ज़ोर से चिल्लाई 'अरे आदमी आ गया !' वहाँ रोटी बनाने के लिये बड़े-बड़े तंदूर होते हैं। कपड़े तो थे नहीं अतः 'पुरुष' के सामने नग्नता हटाने के लिये वह उसी तंदूर में घुस गयी। सागर स्वामी समझ गये, पहचान लिया उन्होंने। उसे कहा 'अरे बाहर आओ।' अंदर अग्निमूर्ति भगवान् ने पद्मा को दिव्य वस्त्र पहना दिया जिन्हे पहन कर वह बाहर आयी। धीरे-धीरे महात्मा ने उसे उपनिषदों का अर्थ समझाया। यहाँ जिसे 'ज्ञेय' कहा उस विश्वाधिक तत्त्व का उन्होंने विस्तार से निरूपण किया। श्रवणादि के फलस्वरूप पद्मा की ज्ञाननिष्ठा दृढ हो गयी।

एक बार अनेक शिष्य बैठे थे, गुरु जी ने प्रश्न किये 'सबसे श्रेष्ठ प्रकाश कौन सा है ?' लोगों ने नाना उत्तर दिये। पद्मा ने तो कहा 'परमात्मज्ञान ही सच्चा प्रकाश है।' दूसरा प्रश्न था 'सबसे प्रधान तीर्थ कौन सा है ?' पदमा का जवाब था 'ब्रह्मज्ञान में लीन होकर रहना ही श्रेष्ठ तीर्थ है।' तीसरा सवाल था 'सब सम्बंधियों में कौन श्रेष्ठ है ?' उसने बताया 'परम शिव ही सारे संबंधियों में श्रेष्ठ है।' चौथा प्रश्न था 'उस परम आनंद का साधन क्या है ?' उत्तर था 'उसमें तन्मय हो जाना ही आनंद का साधन है।' गुरुजी ने समझ लिया कि पद्मा की निष्ठा पूर्ण हो गयी। उन्होंने उसका लल्लेश्वरी नाम रखा। वह सर्वत्र परमात्मज्ञान का उपदेश देते हुए विचरती रही। भाषा-श्लोकों में वह ज्ञान देती थी।

लल्लेश्वरी कहा करती थी कि मन एक गधा है ! इसे वश में

रखो, नहीं तो केसर की क्यारियाँ चर जायेगा। मन को वश में करना सबसे ज्यादा जरूरी है। शरीररूप क्षेत्र केसर की खेती करने के लिये मिला है। पर सारी योग्यतायें चर जायेगा अगर मन को छुट्टा छोड़ दिया। यह गधा है, अपना भला-बुरा समझता नहीं।

इसीलिये भगवान् ने कहा कि जो मुझ परमात्मा को प्रेम का एकमात्र आधार बनायेगा वही 'एतद् विज्ञाय' इसका अनुभव कर सकेगा। अन्यथा अनुभव होगा नहीं। ऐसा करना कब तक है ? 'मद्भावायोपपद्यते' जब तक परमात्मभाव में स्थिर न हो जाये। पहले साधन बताये फिर साधनों से प्राप्य ज्ञेय का निरूपण किया। उस प्राप्ति से जब परमात्मा से एक हो गये तब आगे कहीं जाना नहीं है। जब तक अलग हैं तभी तक जाना है। तद्रूप हो गये तब कहाँ जाना है ! अतः यही चरम लक्ष्य कहा जाता है।

एक ही ब्रह्म अज्ञात, ज्ञेय और ज्ञात होता है। हर हालत में, बंधन अवस्था में भी परमात्मा के सिवाय कुछ नहीं। हम परमात्मा से तब भी दूर नहीं। हमेशा ही हमारा उसमें निवास है। ऐसा नहीं कि अभी दूर हैं, बाद में मिलेंगे। हम निरंतर उसकी गोद में है, वह हमें निरंतर सहला रहा है। पर हमारा ध्यान इधर-उधर है जिससे हमें वह अज्ञात लगता है। वृत्तियों को संसार से हटाकर हमें प्रत्येक क्षण प्राण देने वाले, पुष्ट करने वाले महादेव में एकाग्र करते ही वह ज्ञानगम्य हो जाता है।